इकाई 1

शिक्षा में मूल मान्यताएं

इस अध्याय में हम भारत की शिक्षा नीति संबधी कुछ दस्तावेजों के चुनिंदा अंशों का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन में व्यक्ति, समाज, शिक्षा के उद्‌देश्यों, शिक्षाक्रम और शिक्षण–प्रक्रिया से संबंधित मूल मान्यताओं की पहचान और विवेचना करेंगे। जिन दस्तावेजों से पठन सामग्री चुनी गई है, वे इस प्रकार हैं : 1986 (1992 में संशोधित) की राष्ट्रीय शिक्षा नीति, राष्ट्रीय पाठ्‌यचर्या की रूपरेखा : 2005 और योजना आयोग की जन–सहभागिता योजना और प्रसंगवश बाल अधिकार समझौता–1989।

इस अध्याय में हम यह पहचानने का प्रयास करेंगे कि समस्त शिक्षा नीतियों और योजनाओं के पीछे व्यक्ति, समाज, राज्य, अच्छा मानव जीवन, नैतिकता, सौंदर्यबोध, ज्ञान आदि से संबंधित कोई न कोई कही–अनकही मान्यताएं होती हैं। उपरोक्त दस्तावेजों में इस संदर्भ में क्या मान्यताएं हैं, उन्हें पहचानने का कार्य करेंगे। ऐसा हो सकता है कि इन पहलुओं को लेकर मान्यताएं बहुत स्पष्ट रूप से न कही गई हों लेकिन अनकहे ही सही ये दस्तावेजों में इस तरह की मान्यताएं अन्तर्निहित होती हैं। शिक्षा में काम करने वाले व्यक्तिओं और शिक्षकों के लिए आवश्यक है कि वे इन मान्यताओं को पहचानें। अतः हम इस अध्याय में इन मान्यताओं को पहचानने का काम करेंगे।

हमारा यह पेपर शिक्षा दर्शन पर है और शिक्षा दर्शन ऐसी ही मान्यताओं का अध्ययन एवं विवेचन करता है और उनके आधार पर शिक्षा के बारे में विचार करने के लिए कोई वैचारिक ढांचे बनाता है।

परिचय

हमने गत वर्ष के दौरान अपने विद्यालयी अनुभवों तथा अपने विद्यालयों से भिन्न विद्यालयों के वर्णनों पर पुनर्विचार करते हुए ***ज्ञान, शिक्षाक्रम और शिक्षणशास्त्र*** का अध्ययन शुरू किया था। यह पेपर पढ़ने के बाद यह संभव है कि अब हम यह समझते हों कि शिक्षा व सीखने की विषयवस्तु को आयोजित करने के कई तरीके हो सकते हैं। ऐसा भी संभव है कि शिक्षा और सीखने की प्रक्रिया को लेकर क्या किया जाए, इसके बारे में हमारे सहपाठी और शिक्षक कोई सहमति न रखते हों या अलग–अलग समझ रखते हों। किसी छात्राध्यापक ने 'तोतोचान' को पढ़ते हुए यह सोचा या कहा हो कि *यह सब हमारे यहां नहीं हो सकता* । हो सकता है कि 'समर हिल' को पढ़ते हुए किसी अन्य ने कहा हो कि *यह सब सही है, पर हमारे यहां के बच्चे ऐसे नहीं होते।* हो सकता है किसी तीसरे ने 'दिवास्वप्न' की कहानी पढ़ते हुए कहा हो कि *उन दिनों में ऐसा सोच सकते थे, पर हमारे वर्तमान समय या समाज में सब कुछ प्रतिस्पर्धा से तय होता है। अतः प्रतिस्पर्धा के चलते इस तरह नहीं पढ़ाया जा सकता। अतः ये विचार हवाई हैं। आज के युग में इन्हें लागू नहीं किया जा सकता।*

क्या कोई ऐसा तरीका है कि हम इन अलग–अलग दृष्टियों पर विचार कर सकें ? क्या हम कुछ गहराई में जाकर यह पता लगाने की कोशिश कर सकते हैं कि क्यों लोग किसी विशेष विचार को लेकर चलने लगते हैं जबकि ठीक उसी समय में उनके विपरीत उदाहरण भी मौजूद होते हैं ? ज्यादा जरूरी यह जानना है कि अलग दृष्टि रखते हुए भी वे कौनसी मान्यताएं हैं जो स्कूल, समाज और सीखने आदि के बारे में इन लोगों द्वारा गढ़ी गई हैं ? मनुष्य और समाज के लिए शिक्षा के बारे में अलग दृष्टि रखने के निहितार्थ क्या होते हैं ? इस पूरे साल हम इस तरह के सवालों से जूझते रहेंगे।

यह सच है कि हम सभी अपनी–अपनी धारणाएं बनाते हैं और उन्हीं के जरिए इस दुनिया पर अपनी प्रतिक्रिया करते हैं। ए. एस. नील, तेत्सुको कुरोयानागी अथवा गिजुभाई ने भी यह माना था कि बच्चे और व्यक्ति भिन्न–भिन्न विशेषताओं या गुणों वाले होते हैं। एक खास तरह से बच्चों को शिक्षित करके वे कोई भावी दुनिया रचना चाहते थे। उन्होंने शायद यह माना था कि बच्चों को उनके स्कूलों में सीखने के भिन्न अनुभव देकर वे उनके अपने भविष्य का दृश्य देख सकने में सक्षम हो सकेंगे और अपने समाज को अलग तरह का बना सकेंगे। संभव है कि नील, कुरोयानागी अथवा गिजुभाई ने कविता या नाटक अथवा गणित जैसे ज्ञान को अपने विद्यालय के लिए अधिक महत्व का निर्धारित किया हो। जिन मूल्यों को और सीखने की प्रक्रियाओं को उन्होंने अपने लिए महत्वपूर्ण माना हो उन पर पुनर्विचार करते हुए वे बच्चों के साथ अलग तरह से पेश आए हो सकते हैं।

- आपके विचार से नील, कुरोयानागी अथवा गिजुभाई की मनुष्य/व्यक्ति, समाज व शिक्षा व्यवस्था के बारे में धारणा क्या थी ? उनमें से कुछ को यहां लिखने व उन पर पुनर्विचार करने का प्रयास करें। समूहों में बंटकर काम करें और इन लोगों की वे धारणाएं क्या रही होंगी उसका विवरण करने वाले पोस्टर बनाएं।

हम कोई दस्तावेज क्यों पढ़ रहे हैं ?

एक ओर हम देखते हैं कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए इसके बारे में भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण हैं और दूसरी ओर वास्तविकता में घटित होती शिक्षण प्रक्रियाएं हैं। आपने प्रायः यह महसूस किया होगा कि इस तथ्य के बावजूद कि अलग–अलग आदर्श अलग–अलग लोगों द्वारा स्थापित किए गए। उनमें से कुछ ही उपयोग में लिए जाते हैं, कुछ को उपयोग में नहीं लाए जा सकने योग्य मान लिया जाता है और कुछ को आपत्तिजनक माना जाता है। क्या कोई ऐसा तरीका हो सकता है जिसके जरिए इन आदर्शों को विद्यालय में उपयोग में लाया जा सके ? एक ऐसी संभावना जिसमें हम ऊपर दिए गए उदाहरणों में आए आदर्शों को विद्यालय में उपयोग में ला सकें। अब जब हम राज्य के शिक्षा तंत्र के बारे में विचार कर रहे हैं तो हमें राष्ट्रीय नीतियों व दस्तावेजों पर विचार करने की जरूरत पड़ेगी जो हमारे विद्यालयों को निर्देशित करते हैं।

क्या नीतियां और दूसरे दस्तावेज वास्तव में हमारे दैनिक जीवन को प्रभावित करते हैं ? इसे समझने का एक तरीका यह है कि ये हरेक दस्तावेज सीधे–सीधे कुछ निर्णयों और योजनाओं को लागू करने का पक्ष लेती हैं जिसे कि ये जरूरी ठहराती हैं। दूसरे यह कि ये नीतियां और दस्तावेज कुछ व्यक्तियों के दृष्टिकोणों पर आधारित हो सकती हैं। या इसे दूसरे शब्दों में समझने का प्रयास करें तो हो सकता है कि राष्ट्र व राज्य का व्यक्ति व समाज के बारे में खुद अपनी एक दृष्टि होती है जो इन दस्तावेजों में प्रतिबिम्बित होती है। यह संभव है कि किसी व्यक्ति के विचारों ने किसी नीति निर्माण अथवा दस्तावेज को गहरे तक प्रभावित किया हो। खुद सरकारी तंत्र के भीतर ये नीतियां और दस्तावेज एक खास ढांचे को अपनी जगह पर बनाए रखते हैं, उसे दिशा निर्देश उपलब्ध करवाते हैं और साथ ही उनके व्यावहारिक उपयोग को संचालित व नियंत्रित करते रहते हैं। ये समाज व व्यक्तियों के भविष्य पर गहरा असर डालते हैं।

इस अध्याय में हम बहुत विस्तार के साथ नीतियों अथवा इन दस्तावेजों का विश्लेषण नहीं करेंगे बल्कि अपने को बहुत आरंभिक स्तर पर सीमित रखते हुए यह समझने का प्रयास करेंगे कि इस तरह के दस्तावेज किस तरह कुछ मान्यताओं अपनाते हैं। इस बारे में शिक्षा चिन्तकों ने क्या लिखा है या आपने अपनी पढ़ाई के दौरान उनके लिखे के बारे में क्या पढ़ा है, इस आधार पर हम यह सब नहीं करेंगे बल्कि इसे आधार पर करेंगे कि हम खुद अपनी कक्षाओं में उन्हें कैसे पहचान पाते हैं।

अध्याय के कुछ खास पहलू

इस अध्याय के तीनों खण्डों में जो कहा गया है उसे यहां सिर्फ चिन्हित करने का प्रयास किया गया है। इसके बारे में हम विस्तार से इस पाठ्यक्रम के अगले हिस्सों में समझने का प्रयास करेंगे। यहां सिर्फ इन सवालों को चिन्हित किया गया है– 1. दस्तावेज व्यक्ति के बारे में क्या मानता है ? 2. दस्तावेज समाज के बारे में क्या मानता है ? 3. दस्तावेज शिक्षा व सीखने के बारे में क्या मानता है? प्रत्येक खण्ड के सभी बिन्दुओं/विषयों में अनुच्छेद व प्रश्न हैं।

प्रत्येक खण्ड में दस्तावेजों से उद्धरण दिए गए हैं। यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि हम दस्तावेजों का कोई विश्लेषण करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। लेकिन यह समझने की कोशिश जरूर कर रहे हैं कि क्या दस्तावेज में कोई मान्यता निर्मित की गई है। इस अध्याय में कुछ विचारणीय पंक्तियां व प्रश्नों के बाद कुछ उद्धरण दिए गए हैं। विचारणीय पंक्तियां आपको एक पृष्ठ का आलेख तैयार करने में मदद करेंगी जो आपको खुद लिखना होगा। वे मौटे तौर पर अनुच्छेदों में आई कुछ मूल बातों पर आधारित हैं। इसी तरह से दिए गए प्रश्न आपको अनुच्छेद में ली गई मान्यता पर विचार करने में मदद करेंगे। प्रत्येक खण्ड का तीसरा भाग आपके द्वारा किया जाना है। अपने विचारों और विचारणीय पंक्तियों व प्रश्नों से लिए गए विचारों के आधार पर आप अपना आलेख तैयार कर सकते हैं। यह किसी एक सही उत्तर पर पहुंचने की कोशिश नहीं है बल्कि यह समझने व अभिव्यक्त करने की कोशिश है कि शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण विचारों को सामने रखने के दस्तावेजों के एक से अधिक तरीके होते हैं।

इस आलेख में पढ़े जाने वाले दस्तावेजों का संक्षिप्त परिचय

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित)

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा पर हिन्दुस्तान में पहली शिक्षा नीति 1968 में बनी थी और दूसरी 1986 में इसे बाद में 1990 की आचार्य राममूर्ति समिति की रिपोर्ट के आधार पर संशोधित किया गया और 1992 में (संशोधनों के साथ) अपना लिया गया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति विद्यालयी शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक के सभी पहलुओं को देखती है। इन नीतियों के आधार पर बहुत से कार्यक्रम जैसे ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड चले थे जिसका उद्देश्य देश के सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा में शामिल करना था और बाद में सर्व शिक्षा अभियान जिसका उद्देश्य देश में सभी को आरंभिक शिक्षा उपलब्ध करवाना था।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005

आप गत वर्ष के शिक्षक्रम से परिचित ही होंगे। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अनुसार हर 5 साल में पाठ्यचर्या की रूपरेखा को संशोधित किया जा सकता है। हिन्दुस्तान में वर्ष 1986, 2000, 2005 के दौरान राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा बनी हैं। 2005 का दस्तावेज यशपाल समिति की रिपोर्ट 'शिक्षा बिना बोझ के' से प्रभावित है। और जब यह दस्तावेज गढ़ा जा रहा था तब एनसीईआरटी द्वारा फोकस ग्रुप के पोजिशन पेपर लिखवाए/बनवाए गए थे। 2005 का यह दस्तावेज भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष, समतावादी एवं बहुलतावादी समाज के दृष्टिकोण पर बहुत बल देता है जो कि सामाजिक न्याय व बराबरी के मूल्यों पर आधारित है। यह रटाई आधारित शिक्षण पद्धति से दूर हटने, बाहरी ज्ञान को विद्यालय एवं किताबों से जोड़ने व परीक्षा प्रणाली को आमूलचूल परिवर्तित करने आदि पर बहुत बल देता है।

बाल अधिकार समझौता–1989

हमारी शैक्षणिक कार्यप्रणाली जिस तरह से काम करती है उसको दिशा निर्देश देने का काम केवल राष्ट्रीय दस्तावेज ही नहीं करते बल्कि सामाजिक विकास से संबंधित अन्य नीतियां अथवा दस्तावेज भी करते हैं। यहां हम एक ऐसे दस्तावेज पर भी विचार करेंगे जिसे भारत सरकार द्वारा अपनाया गया है और जो शिक्षा के लिए एक खास महत्व रखता है। बच्चे के अधिकार संबंधी समझौते को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा द्वारा अंगीकृत किया गया था। इसके पीछे मंशा यह थी कि संघ सन् 2000 तक अपने उद्‌देश्य को पा ले। व्यापक रूप से ये समझौता अधिकारों को राजनीतिक, आर्थिक, नागरिक सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भों में ही निर्धारित करता है। यह बच्चे को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है जिसकी उम्र 18 साल से कम है।

सामाजिक क्षेत्र के बारे में सार्वजनिक–निजी भागीदारी (पीपीपी) उपसमूह की रिपोर्ट –2004

ऐसा लग सकता है कि खुद इस दस्तावेज का शिक्षा पर कोई असर नहीं है। फिर भी इस पर गौर किया जाना महत्वपूर्ण है कि सरकार ने इस तरह के दस्तावेजों में शिक्षा की भूमिका की अलग ढंग से व्याख्या कर दी है। 1990 के शुरू में हिन्दुस्तान ने बहुत से क्षेत्रों के लिए बाजार को हल ढूंढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना शुरू कर दिया था। उदाहरण के लिए डाक सेवा, दूर संचार, सड़क निर्माण आदि के लिए। इस संभावना की तलाश करने के लिए कि अगर राज्य की नीतियों में ऐसा बदलाव किया जाए कि सामाजिक क्षेत्र में सरकार निजी क्षेत्र को आमंत्रित कर पाए। सरकार ने 2004 के दौरान एक समिति का गठन किया था। सामाजिक क्षेत्र में स्वास्थ्य, शिक्षा जैसे क्षेत्र आते हैं। हम इस समिति की रिपोर्ट से कुछ उद्धरण पढ़ेंगे, उन्हें शिक्षा को ध्यान में रखने वाले संदर्भ से पढ़े जाने की जरूरत है।

व्यक्ति

इन उद्धरणों को पढ़ते वक्त ध्यान दी जाने वाली बातें:

यह इस खण्ड का सबसे छोटा भाग है। इसमें उन सब दस्तावेजों से उद्धरण है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसे पढ़ते वक्त इसमें आए विभिन्न शब्दों जैसे– बच्चे, नागरिक, व्यक्ति, शिक्षक आदि का संबंध व्यक्ति से है। अतः इन शब्दों को पढ़ते वक्त यह ध्यान रखें कि इनका संबंध हम व्यक्ति शब्द के साथ जोड़ते चलें। यह बिल्कुल महत्वपूर्ण नहीं है कि हम वही अर्थ लें जो दस्तावेज बनाने वालों ने लिया है। अभी हम उन्हें पढ़ेंगे और एक सामान्य तरीके से व्यक्ति के बारे में जो सोचा जाता है वही अर्थ लेंगे। अन्य बिन्दुओं के बारे में जो विचार/धारणाएं हैं (खास तौर पर कैसे पढ़ाया जाए, ज्ञान क्या है आदि) उन पर हम इस अध्याय के तीसरे खण्ड में पुनर्विचार कर रहे होंगे। एक बार पुनः दोहरा दें कि हम किसी अनुच्छेद में आए मुख्य विचार पहचानने के लिए नहीं पढ़ रहे हैं बल्कि यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि क्या वह अनुच्छेद व्यक्ति के बारे में कोई विशेष विचार व्यक्त करता है।

उद्धरण

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित)

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित) व्यक्ति व समाज (कुछ दस्तावेजों में निम्न अंश 1.10 के रूप में उद्‌धृत है)

विचार करने की भारतीय पद्धति में व्यक्ति को सकारात्मक व बहुमूल्य राष्ट्रीय संसाधन के तौर पर देखा जाता है। बल्कि दूसरे बेजान संसाधनों से कहीं अधिक इसे कोमलता, जिम्मेदारी के साथ–साथ उत्साह के

साथ पाला–पोसा जाना जरूरी है। चूंकि हर व्यक्ति अद्वितीय है, इसलिए गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त उसके विकास में भिन्न तरह की समस्याएं और जरूरतें उपस्थित होती हैं। इस जटिल विकास की प्रक्रिया में शिक्षा जैसे उत्प्रेरक कार्य को बहुत ही सतर्क व संवेदनशीलता के साथ किए जाने की जरूरत है।

प्यार की उष्मा से भरी हुई, खुशनुमा व उत्साहित करने वाली एक ऐसी पद्धति जिसमें बच्चे की जरूरतों के प्रति चिंता हो वही किसी बच्चे के विद्यालय आने व सीखने की सबसे बड़ी प्रेरणा हो सकती है। प्राथमिक स्तर पर बालकेन्द्रित व गतिविधि आधारित शिक्षण प्रक्रियाएं ही अपनाई जानी चाहिए। सबसे पहले बच्चों को उनकी गति से सीखने देना चाहिए और उनके सीखने के लिए अतिरिक्त सहायक सामग्री भी उपलब्ध करवाई जानी चाहिए। जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता है संज्ञानात्मक सीखने का अंश बढ़ता जाएगा और अभ्यास से कुशलताएं अर्जित हो जाएंगी। प्राथमिक स्तर पर फेल नहीं करने की नीति जारी रहेगी, जितना संभव हो मूल्यांकन को उतना अलग–अलग किया जाए। दंड को पक्के तौर पर शिक्षा तंत्र से बाहर का रास्ता दिखाना होगा और विद्यालय के समय व छुट्टियों के समय का बच्चों की सुविधा के साथ तालमेल बिठाया जाएगा।

यह सर्वमान्य है कि विशेष प्रतिभा या योग्यता वाले बच्चों को अपनी इस क्षमता के कारण खामियाजा उठाना पड़ता है कि वे तीव्र गति से सीखते हैं। उन्हें गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध करवाकर उनकी तीव्र गति के हिसाब से आगे बढ़ने का मौका दिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005

बच्चे काफी कुछ सहजता से अपने परिवेश में बड़े होते हुए सीख लेते हैं। वे अपने आस–पास के जीवन व दुनिया पर भी नज़र रखते हैं। जब उनके अनुभवों को कक्षा में लाया जाएगा, तो उनके प्रश्नों, उनकी जिज्ञासाओं से पाठ्यचर्या अधिक समृद्ध और रचनात्मक बनेगी। इन सुधारों से स्वीकृत पाठ्यचर्या के सिद्धांतों– 'ज्ञात से अज्ञात की ओर', 'मूर्त से अमूर्त की ओर' और 'स्थानीय से वैश्विक की ओर' को बल मिलेगा। इस उद्देश्य के लिए स्कूली शिक्षण के सभी आयामों में विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र को अपनाने की आवश्यकता है, जिनमें शिक्षक शिक्षा भी शामिल है। उदाहरण के लिए उत्पादक कार्य प्रभावी शिक्षण का माध्यम बन सकते हैं, अगर (क) कक्षा के ज्ञान को बच्चों के जीवन–अनुभव से जोड़ा जाए; (ख) हाशिए के समाजों के बच्चों को, जिन्हें काम से जुड़े कौशल का ज्ञान होता है, अपने संपन्न साथियों का मान–सम्मान पाने का अवसर मिल सकेगा; और (ग) संचित मानवीय अनुभव, ज्ञान और सिद्धांतों को इस प्रकार संदर्भित किया जा सकेगा। (पृष्ठ संख्या 7)

इस दस्तावेज़ में भाषा में द्वि/बहुभाषिकता निहित है। और जब हम घर की भाषा(ओं) और मातृभाषा(ओं) की बात करते हैं तो इसके अंतर्गत घर की भाषा, बड़े कुनबे की भाषा, आस–पड़ोस की भाषा आदि आ जाती हैं, जो बच्चा स्वाभाविक रूप से अपने घर और समाज के वातावरण से ग्रहण कर लेता है। बच्चों में भाषा की जन्मजात क्षमता होती है। हम रोज़मर्रा के अनुभव से जानते हैं कि ज्यादातर बच्चे, स्कूल की शिक्षा की शुरुआत से पहले ही भाषा की जटिलताओं और नियमों को आत्मसात कर पूर्ण भाषिक क्षमता रखते हैं। कई बार जब बच्चे स्कूल आते हैं तो उनमें पहले से ही दो या तीन भाषाओं को समझने और बोलने की क्षमता होती है। वे न केवल उन भाषाओं को सही–सही बोल लेते हैं, बल्कि उनका उचित प्रयोग भी कर रहे होते हैं। यहां तक कि भिन्न प्रतिभा वाले बच्चे, जो बोल नहीं पाते वे भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उतने ही जटिल वैकल्पिक संकेतों और प्रतीकों का विकास कर लेते हैं। (पृष्ठ संख्या 41)

बाल अधिकार का समझौता–1989

प्रस्तावना

इस बात को स्वीकार किया जा रहा है कि बच्चे के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण व समरसतापूर्ण विकास के लिए उसे पारिवारिक वातावरण में व खुशी, प्यार और समझदारी भरे माहौल में बड़ा होना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखा जा रहा है कि बच्चा समाज में एक व्यक्ति के रूप में जीवन जीने के लिए पूरी तरह सक्षम होना चाहिए और संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में घोषित आदर्शों की भावना के अनुरूप उसका विकास होना चाहिए खासतौर पर शांति, गरिमा, सहिष्णुता, समानता, व समन्वयता की भावना के अनुरूप।

बाल अधिकार पर समझौता
(अनुच्छेद 8)

1. राज्य की यह जिम्मेदारी है कि वह बच्चे की पहचान, उसकी नागरिकता, नाम व पारिवारिक रिश्तों को सुरक्षित रखने के अधिकार की जिम्मेदारी ले और इसमें अवैध हस्तक्षेप से कानूनी रक्षा करे।

2. अगर कहीं कोई बच्चा गैर–कानूनी रूप से अपनी पहचान के कुछ या सभी तत्वों से वंचित है तो राज्य उसकी पहचान को जल्दी से जल्दी पुनर्स्थापित करने के नजरिए से उचित सहायता व संरक्षण उपलब्ध कराएगा।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 (व्यक्ति के लिए कला व कल्याण की धारणा)

जीवन में चुनाव व लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी समाज में विभिन्न प्रकार से योगदान देने की सामर्थ्य पर निर्भर है। यही वजह है कि शिक्षा को काम करने, आर्थिक प्रक्रियाओं व सामाजिक बदलाव में हिस्सा लेने की सामर्थ्य को विकसित करना चाहिए। इसके लिए काम का शिक्षा से जुड़ाव अपरिहार्य है। कौशलों और प्रवृत्तियों के लिहाज से काम से जुड़े अनुभव इस तरह पर्याप्त और व्यापक होने चाहिए कि वे सामाजिक–आर्थिक प्रक्रियाओं की समझ पैदा कर सकें और ऐसी मानसिक संरचना विकसित करने में मदद करें जो सहकारिता की भावना से दूसरों के साथ मिलकर काम करने को प्रोत्साहन दे। केवल कार्य ही सामाजिक मनोवृत्ति की रचना कर सकता है।

सौंदर्य व कला के विभिन्न रूपों को समझना व उसका आनंद उठाना, मानव जीवन का अभिन्न अंग है। कला, साहित्य और ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में सृजनात्मकता का एक–दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। बच्चे की रचनात्मक अभिव्यक्ति और सौंदर्यात्मक आस्वादन की क्षमता के विस्तार के लिए साधन और अवसर मुहैया कराना शिक्षा का अनिवार्य कर्तव्य है। आज जबकि बाज़ार की शक्तियों में मतों व अभिरुचियों को प्रभावित करने की गुंजाइश ज्यादा है, सौंदर्य की समझ व रचनात्मकता के लिए शिक्षा की महत्ता और भी बढ़ गई है। विद्यार्थी को सौंदर्य के विभिन्न रूपों को समझने व उनका विवेचन करने में समर्थ बनाने का प्रयास होना चाहिए। बहरहाल, हमें यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि हम मनोरंजन व सौंदर्य के उन रूढ़िबद्ध रूपों को प्रोत्साहित न करें जो महिलाओं व विभिन्न प्रकार की चुनौतियां झेल रहे व्यक्तियों को अपमानित करते हों। (पृष्ठ संख्या 13)

कुछ विचारणीय पंक्तियां व प्रश्न

उपरोक्त अनुच्छेद के आधार पर वाक्यों में नीचे दिए शब्दों में से उपयुक्त शब्द भरिए:

(संबंध जोड़ना, खुशी/कठिन, अनुभव, सामाजिक/कक्षा, राज्य/अभिभावक, विकल्प, संस्कृति/कला, पहचान/समाज, परिवार)

व्यक्ति –

सामाजिक ....के आधार पर सीखने में सक्षम हैं;

समाज में दूसरे व्यक्ति के अनुभवों से...सक्षम हैं;

जो सीख केवल............................वातावरण में सीख सकते हैं वह...है;

जरूरत है एक.................................जिसकी रक्षा ....द्वारा;

में समरसतापूर्ण विकास को प्राप्त करने के लिए..में बड़े होने की जरूरत है;

ज्यादा खुशनुमा जिन्दगी जी सकते हैं जब उनके पास................................हों केवल आर्थिक मामलों में ही नहीं बल्कि.....................................में भी।

सही और गलत बताएं :

उपरोक्त अनुच्छेद के आधार पर बनी समझ के आधार बताएं कि नीचे दिए गए वाक्य सही हैं या गलत।

- व्यक्ति को भाषा सिखाना बहुत कठिन है।
- व्यक्ति को समाज के लिए एक संसाधन के तौर पर देखा जाता है।
- बहुत से हिन्दुस्तानी बहुभाषिकता के वातावरण में रहते हैं।
- व्यक्ति को अपनी पहचान त्यागने की जरूरत है।
- व्यक्ति के कल्याण का कला व सौन्दर्य का आनन्द लेने की क्षमता से सीधा संबंध है।

निम्नलिखित प्रश्नों का जवाब देने का प्रयास करें

1. क्या सभी दस्तावेज इस बात को मानते हैं कि सभी व्यक्ति सीखने में सक्षम होते हैं ? अथवा दस्तावेजों में किस तरह के मतभेद उभरकर आए हैं/दस्तावेजों द्वारा किस तरह के मतभेदों को कल्पित किया गया है ?
2. समाज में एक व्यक्ति के तौर पर जीवन जी पाना इस वाक्य से कोई क्या अर्थ लगाए जब यह कहता है कि यह एक संसाधन है और इसका पालन पोषण किए जाने की जरूरत है ?
3. भाषा और व्यक्ति के बारे में क्या–क्या धारणाएं हैं ?
4. क्या आपको लगता है कि कोई दस्तावेज यह धारणा रखता है कि कुछ खास व्यक्ति अलग तरह के हैं क्योंकि वे अपनी पीढियों में विद्यालय में सीखने आने वाले सबसे पहले हैं– अथवा यह उस सामाजिक संदर्भ के बारे में कुछ धारणाएं व्यक्त करता है जिसमें वे रहते हैं ? प्रतिभाशाली बच्चे के बारे में यह दस्तावेज क्या अलग बातें कहता है ?
5. अगर कोई बहस करता है कि व्यक्ति के लिए दंड खराब चीज है क्योंकि सभी व्यक्ति अच्छे होते हैं और तर्कसंगत बहस के जरिए सही चीजें करते हुए बदल सकते हैं– क्या आप इस बात से सहमत होंगे ?

विचारणीय पंक्तियां

- किसी खास दस्तावेज में लोगों के अच्छे जीवन को विश्लेषण करने और कला का आनन्द लेने की क्षमता के रूप में देखा गया है।
- कोई एक दस्तावेज यह मानता है कि व्यक्ति को समाज में जीने के लिए तैयार किए जाने की जरूरत होती है।
- व्यक्ति की पहचान को उसकी नागरिकता, पारिवारिक रिश्तों, और नाम के चहुं ओर बनते हुए देखा गया है।

मेरा आलेख

उपरोक्त उद्धरणों, प्रश्नों के उत्तरों व विचारणीय पंक्तियों पर आधाारित व्यक्ति के बारे में आप अपनी समझ के अनुसार मुख्य बिन्दुओं के सार को अपनी भाषा में 200 शब्दों के एक आलेख के रूप में लिखिए।

समाज

पढ़ते वक्त ध्यान रखने वाली बातें

दस्तावेजों में समाज का अलग—अलग तरीके से वर्णन किया गया हो सकता है। इसका एक तरीका उनका अपने समाज के बारे में वर्णन करना हो सकता है। उदाहरण के लिए, दस्तावेज कुछ इस तरह कह सकते हैं, *'भारतीय समाज की परंपरा महान है'*। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि हमारे समाज लिए कुछ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, *'राज्य सभी विद्यालयों को पुस्तकालय उपलब्ध कराएगा'*। पहले वाक्य में भारतीय समाज का सीधा—सीधा विवरण है। लेकिन दूसरे वाक्य में यह मान्यता है कि विद्यालय में पुस्तकें होने से समाज को लाभ होगा अथवा समाज को या तो बदलने की जरूरत है या ऐसा ही रहने की। हालांकि इसमें समाज शब्द का कहीं इस्तेमाल नहीं हुआ है। इसे पढ़ते वक्त इसमें आए शब्दों, उदाहरण के लिए राष्ट्र, परिवार, देश, समुदाय, भारतीय; के बारे में यह ध्यान रखें कि उनका संबंध हम समाज शब्द से है और पढ़ते वक्त लगातार इसके साथ जोड़ते रहें। हम प्रायः लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि व्यक्ति समाज में रहते हैं, इस तरह उनके अंतर्निहित संदर्भ समाज के बारे में ही होते हैं, इस तरह के अंश इस अध्याय के पिछले खण्ड में जहां व्यक्ति के बारे में नीतियों और दस्तावेजों की मान्यताओं को समझने का प्रयास किया है, वहां भी हैं।

उद्धरण

बाल अधिकार का समझौता—1989

इस बात से सहमत होते हुए कि परिवार समाज का मूलभूत समूह है और इसके सभी सदस्यों; खासतोर पर बच्चों के विकास और खुशहाली के लिए इसे आवश्यक संरक्षण और सहायता मिलनी चाहिए ताकि यह समाज में अपना दायित्व पूर्ण रूप से निभा सके। (प्रस्तावना)।

अनुच्छेद 5 राज्य माता—पिता/अभिभावकों या जहां उचित हो वहां कटुम्ब या स्थानीय रीति—रिवाज के मुताबिक समुदाय के सदस्यों, कानूनन संरक्षक अथवा बच्चे के लिए कानूनी रूप से जिम्मेदार किसी अन्य व्यक्ति की बच्चे की विकसित होती हुई क्षमताओं के साथ संगत तरीके से देखभाल करने, वर्तमान समझौते के अधिकारों में स्वीकृत बच्चे का उचित दिशा निर्देश व मार्गदर्शन करने के लिए, जिम्मेदारियों, अधिकारों व कर्तव्यों का सम्मान करेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित)

- हिन्दुस्तान की भावी शिक्षा कैसी होगी इसका साफ–साफ अंदाजा लगाना बहुत मुश्किल है। हमें मिली परंपरा में बौद्धिक व आध्यात्मिक उपलब्धियों को सबसे अहम जगह दी गई है और हमें उसी सीमा में अपने उद्देश्य पाने में खुद को सफल बनाना है।
- मुख्य काम पिरामिड के आधार को मजबूती देना है, जो सदी के अंत तक एक अरब के आसपास पहुंच रहा होगा। साथ ही यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि जो लोग पिरामिड की चोटी पर हैं वे दुनिया के सर्वश्रेष्ठों में से एक हों। पिछले समय में हमारे सांस्कृतिक कूप के स्रोतों ने इन दोनों छोरों का ठीक से खयाल रखा था, लेकिन भिन्न तरह के विदेशी प्रभाव व वर्चस्व ने इसे प्रभावित किया है। शिक्षा बहुआयामी भूमिका के जरिए मानव संसाधन में देशव्यापी प्रयासों को और सघन किया जाना अब संभव होना चाहिए।
- हिन्दुस्तान की राजनैतिक व सामाजिक जिन्दगी एक ऐसे दौर से गुजर रही है जिसमें लंबे समय से मान्य मूल्यों के नष्ट हो जाने का खतरा है। धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, लोकतंत्र व व्यावसायिक नैतिकता के लक्ष्यों पर बहुत दबाव है।
- जब तक कि ग्रामीण–शहरी विभेद को कम नहीं किया जाता और विविधता बढ़ाने के लिए नियत उपायों को नहीं अपनाया जाता व रोजगार के अवसरों का प्रसार नहीं किया जाता तब तक खराब बुनियादी ढांचे व सामाजिक सेवाओं के चलते ग्रामीण इलाके शिक्षित व प्रशिक्षित युवा लोगों का लाभ नहीं ले सकते।
- आने वाले दशकों में हमारी जनसंख्या वृद्धि को पर्याप्त कम किए जाने की जरूरत है। इसे पाने में कोई एक सबसे बड़ा कारक हो सकता है तो वह है महिलाओं के बीच शिक्षा व साक्षरता को बढ़ाना।
- आने वाले समय में अभूतपूर्व अवसरों के साथ–साथ जिन्दगी नए तनाव लेकर आने वाली है। नए वातावरण के साथ तादात्म्य बिठाने के लिए व्यक्ति को तैयार करने के लिए नए ढंग के मानव संसाधन विकास की जरूरत होगी। आने वाली पीढ़ियों को नए विचारों को सतत व रचनात्मक रूप से आत्मसात करने के साथ–साथ अधिक ज्ञान व ज्यादा कौशल चाहिएंगे। उन्हे मानवीय मूल्यों व सामाजिक न्याय के प्रति अधिक प्रतिबद्धता के रंग में रंगा होना होगा। और इस सब का मतलब है गुणवत्तापूर्ण शिक्षा।
- समाज में जरूरी मूल्यों के पतन व बढ़ते हुए निराशावाद के प्रति चिन्ता ने शिक्षा को सामाजिक व नैतिक मूल्यों की स्थापना का जबरदस्त साधन बनाने के लिए शिक्षाक्रम में पुनः समायोजन की जरूरत को केन्द्र में ला दिया है।
- हमारे सांस्कृतिक रूप से बहुलतावादी समाज में शिक्षा को हमारे लोगों की एकता व समागमता की ओर उन्मुख सार्वभौमिक व शाश्वत मूल्यों को बढ़ाना चाहिए। इस तरह की मूल्य शिक्षा को रूढ़िवाद, धार्मिक कट्टरता, हिंसा, अंधविश्वास और नियतिवाद को मिटाने में मदद करनी चाहिए।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005

शिक्षा व्यवस्था उस समाज से अलग–थलग होकर काम नहीं करती जिसका वह एक भाग है। जातिगत, आर्थिक तथा स्त्री–पुरुष संबंधों का पदानुक्रम, सांस्कृतिक विविधता और असमान विकास से, जो भारतीय समाज की विशेषताएं हैं, शिक्षा की प्राप्ति और स्कूलों में बच्चों की सहभागिता प्रभावित होती है। स्कूल में नामांकित होने वाले और स्कूल की पढ़ाई पूरी करने वाले बच्चों के अनुपात के मामले में विभिन्न सामाजिक व आर्थिक समुदायों के बीच जो गहरी विषमता देखी जाती है, उसमें यह प्रतिबिंबित होता है। इस प्रकार ग्रामीण व शहरी गरीब वर्गों तथा धार्मिक एवं अन्य जातीय अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति समुदाय की लड़कियां शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक असुरक्षित होती हैं। शहरी इलाकों में और अनेक गांवों में, स्कूली व्यवस्था स्वयं में अनेक स्तरों में बंटी हुई है और बच्चों को असाधारण रूप से अलग–अलग शैक्षिक अनुभव देती है। असमान लैंगिक संबंध न केवल वर्चस्व को बढ़ावा देते हैं बल्कि वे लड़के–लड़कियों में तनाव भी पैदा करते हैं तथा उनकी मानवीय क्षमताओं के पूर्ण विकास की स्वतंत्रता में बाधा पहुंचाते हैं। यह सबके हित में है कि मनुष्य को लिंग असमानताओं से मुक्त कराया जाए। (पृष्ठ संख्या 10)

मौखिक और शिल्प परंपराएं (Society and knowledge)

मौखिक श्रुति परंपरा और शिल्प परंपराएं विशिष्ट बौद्धिक संपदा का दर्जा रखती हैं। विविध और परिष्कृत परंपराओं का पोषण हमारे समाज के असंख्य लोगों ने किया है जिनमें महिलाएँ, हाशिए पर जीने वाले लोगों के छोटे–छोटे समूह और आदिवासी जन शामिल हैं। बच्चों की पाठ्यचर्या में इसे शामिल करने से हम उनके सामने समझ और विचारों के साररूप की एक खिड़की खोल सकें। ऐसे कौशल ऐसी क्षमता दे सकते हैं जिससे वे अपने जीवन और समाज की समृद्धि में योगदान कर सकते हैं। स्कूल साक्षर को सुविधा प्रदान करता है परंतु मौखिक की उपेक्षा नहीं कर सकता। सभी तरह के स्थानीय मौखिक कौशलों को पोषित करना महत्वपूर्ण है। (पृष्ठ संख्या 32)

स्थानीय ज्ञान परंपराएं

भारत में ऐसे भी कई समुदाय और व्यक्ति हैं जो भारत के पर्यावरण के विविध रूपों की सूचनाओं और उनके प्रबंधन संबंधी ज्ञान के भंडार हैं, जो उन्होंने पीढ़ियों से परंपरागत ज्ञान के रूप में पाने के साथ अपने व्यावहारिक अनुभव से भी प्राप्त किया है। इस प्रकार के ज्ञान में : पौधों का नामकरण और वर्गीकरण, जल–संरक्षण और जल संचय के उपाय या टिकाऊ कृषि की प्रथा शामिल है। कभी–कभी ये उससे भिन्न भी हो सकते हैं जैसा स्कूल में विषय ज्ञान देते समय बताया जाता है। कभी तो इसकी पहचान भी नहीं हो पाती है कि यह ज्ञान महत्वपूर्ण है। इन स्थितियों में, स्कूल में शिक्षकों को विद्यार्थियों को स्थानीय परंपराओं और लोगों के पर्यावरण संबंधी व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित परियोजना तैयार करने में मदद करनी चाहिए। इसमें स्कूली परंपरा से उसकी तुलना को भी शामिल किया जा सकता है। कुछ मामलों में, जैसे कि पौधों के वर्गीकरण के मामले में, हो सकता है कि दोनों परंपराओं के मानदंड समानांतर हों और

अपने–अपने मुताबिक दोनों महत्वपूर्ण हों। अन्य दृष्टान्तों में, जैसे बीमारी के वर्गीकरण और उनके उपचार के मामले में यह स्थानीय परंपरा के विपरीत भी हो सकते हैं। बहरहाल, सभी प्रकार के ज्ञान को संवैधानिक मूल्यों और परंपराओं के अनुकूल होना चाहिए। (पृष्ठ संख्या 37)

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86–92

हिन्दुस्तान ने पूरे विश्व को एक परिवार मानते हुए सदा ही देशों के बीच शांति व सहमति के लिए काम किया है। शिक्षा को परंपरा के इस सच को मजबूती देनी होगी और युवा पीढ़ी को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग व शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व के लिए प्रेरित करना होगा। इस पहलू को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। समानता को बढ़ावा देने के लिए यह जरूरी होगा कि सभी को न केवल उपलब्धता में बल्कि सफलता की स्थितियों में भी बराबर अवसर उपलब्ध करवाए जाएं। इसके अलावा मुख्य शिक्षाक्रम के जरिए सब में निहित समानता के प्रति चेतना विकसित की जएगी। इसका उद्देश्य पूर्वाग्रहों, सामाजिक वातावरण व जन्म की दुर्घटनाओं के जरिए पहुंची जटिलताओं को मिटाना है।

विचारणीय पंक्तियां व प्रश्न

दस्तावेजों में भारतीय समाज का निम्न वाक्यांशों के साथ वर्णन किया गया है:

1. ''अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना'';
2. ''संपन्न सांस्कृतिक विविधता'';
3. ''समृद्ध मौखिक परंपरा वाला'';
4. ''जिसमें नैतिक मूल्यों की स्थापना किए जाने की जरूरत है'';
5. ''नियतिवाद व अंधविश्वास की समस्या से ग्रस्त'';

इसके बाद अब दो लोगों से उपरोक्त वाक्यांशों में से असंगत वाक्यों को अलग करने के लिए कहा गया है। उनमें से एक ने कहा वह चौथे वाक्य को चुनेगा क्योंकि यह भावी समाज की बात करता है जिसके बारे में कल्पना की गई है। दूसरे व्यक्ति ने कहा वह पांचवे वाक्य को चुनेगी क्योंकि यह समाज का ज्यादा नकारात्मक ढंग से वर्णन करता है। आप इनमें से किस विकल्प को चुनेंगे ? आप किससे सहमत हैं और क्यों ? अपने तर्क लिखिए।

सही अथवा गलत

- परिवार को एक महत्वपूर्ण संस्था के तौर पर माना गया है जिसमें व्यक्ति बड़ा होता है।
- व्यक्ति को समाज के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले के तौर पर देखा गया है।
- समाज को सभी को समान मदद उपलब्ध करवाने वाले की तरह देखा गया है।
- भारतीय समाज मे जाति और लिंग आधारित पहचान के प्रति बहुत अधिक पूर्वाग्रह हैं।
- संयुक्त समाज के लिए विविधता खतरनाक होती है– हमें भारतीय समाज को एकरूपी बनाने का प्रयास करना चाहिए।
- मानवता का ज्ञान केवल विद्यालयी शिक्षा के जरिए ही स्थाई बना है।
- भारतीय समाज विश्व को एक परिवार की तरह मानता है।

विचारणीय पंक्तियां

1. जब समाज में महिलाएं शिक्षित होती हैं तो उसे कल्याण के रूप देखा गया है।

2. समाज के कल्याण के लिए कुछ खास तरह के कौशलों को महत्वपूर्ण माना गया है।
3. सामाजिक भेदभाव को कम किया जा सकता है।
4. समाज में जो ज्ञान मौजूद है उसे कक्षा में लाए जाने की जरूरत है।
5. शहरी और ग्रामीण संदर्भों में मौजूद समाज में बहुत बड़ा अंतर है।

चौंकाने वाले प्रश्न

1. समाज में मौजूद भिन्न–भिन्न तरह के ज्ञान–कौन कौनसे हैं ?
2. इस दस्तावेज का कौनसा हिस्सा यह कहता है कि समाज में व्यक्ति का उद्‌देश्य आध्यात्मिकता को पाना है ?
3. क्या विचार करने की कोई भारतीय पद्धति है ? क्या आप मानते हैं कि भारतीय पुरुष और स्त्री दोनों को समान रूप से मूल्यवान मानते हैं ?
4. मानव संसाधन से आप क्या समझते हैं ? किसी व्यक्ति को समाज की जागीर/संपत्ति की तरह देखना क्या ठीक बात है ? अगर ऐसा है तो क्या समाज को व्यक्ति जो कुछ भी करता है उस पर अपना नियंत्रण रखना चाहिए ?
5. यह जरूरी है कि समाज देखे कि कुछ मूल्यों का क्षरण तो नहीं हो गया है, जैसे.............
6. इस बात पर ध्यान दिलाया गया था कि हिन्दुस्तान ने देशों के बीच सहयोग के लिए काम किया है। और इस बात के प्रति चिन्ता जताई थी कि युवा पीढ़ी इस काम को आगे बढ़ाए। क्या इस बात में यह चीज महसूस होती है कि व्यक्ति को देश के लिए जीना है ?
7. आप ''संसाधन'' शब्द को किसके साथ जोड़ना चाहेंगे – ''उपयोग'' के साथ या ''संरक्षण'' के साथ ?

मेरा और मेरे दोस्त का आलेख

अपने किसी दोस्त के साथ चर्चा करें और साथ मिलकर एक आलेख तैयार करें जिसमें उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर व विचारणीय पंक्तियां दोनों साथ–साथ हों।

शिक्षा

इस आलेख को पढ़ते वक्त इसमें आए शब्दों के बारे में यह ध्यान रखें कि उनका संबंध हम शिक्षा शब्द के साथ जोड़ते रहें– उदाहरण के लिए सीखना, अध्यापन, पाठ्यक्रम, ज्ञान, ... खास तौर पर सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की भगीदारी से लिए गए उद्धरण के संदर्भ में यह पढ़ना महत्वपूर्ण है कि शिक्षा शब्द को वस्तुओं व उत्पादन की तरह देखा जा रहा है जिसका कोई व्यक्ति उपयोग कर सकता है अथवा उससे कुछ लाभ ले सकता है। इस खण्ड में प्रश्न व विचारणीय पंक्तियां तुलना करने का प्रयास कर रही हैं।

दस्तावेजों से कुछ उद्धरण

बाल अधिकार पर समझौता

अनुच्छेद 17 (संस्कृति शिक्षा)

राज्य मास मीडिया द्वारा किए जा रहे कार्यों के महत्व को पहचानता है और यह सुनिश्चित करेगा कि बच्चे को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों की विविधता से सूचना व सामग्री उपलब्ध हो, खासतौर पर जो

उसकी सामाजिक, आध्यात्मिक व नैतिक कल्याण और शारीरिक एवं मानसिक सेहत की उन्नति के उद्देश्य वाली हो।

(अ) मास मीडिया को इस बात के लिए प्रोत्साहित करेगा कि वह अनुच्छेद 29 की भावना के अनुरूप बच्चे के सामाजिक व सांस्कृतिक लाभ वाली सामग्री व सूचना को प्रसारित करेगा।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सांस्कृतिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों की विविधता वाली सामग्री व सूचना प्रकाशित व प्रसारित करने व लेने–देन के लिए प्रोत्साहित करेगा।

(स) बच्चों के पुस्तकों के प्रकाशन प्रसारण को प्रोत्साहित करेगा।

(द) अल्पसंख्यक व आदिवासी समूहों के बच्चों की भाषाई जरूरतों का ध्यान रखने के लिए प्रोत्साहित करेगा।

सामाजिक क्षेत्र के बारे में उपसमूहों की रिपोर्ट–सार्वजनिक–निजी क्षेत्र की भागीदारी–2004

''कानून, न्याय और व्यवस्था राज्य के पारंपरिक काम रहे हैं। एक कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों को सार्वजनिक सुविधाएं जैसे सड़क, बिजली, और पानी उपलब्ध करवाने की भूमिका भी अदा करता है। राज्य शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं जैसी *उन्नत वस्तुएं* भी उपलब्ध करवाता है जिनका *सकारात्मक असर* होता है। भारतीय संविधान के अंतर्गत इन सब जिम्मेदारियों को अपने कंधों पर लेना संघीय राज्यों की जिम्मेदारी है। इन कल्याणकारी कामों को करने में भारत सरकार राज्य सरकारों की पूरक बनी हुई है।'' (पृष्ठ 1)

''*सामाजिक सेवाओं की श्रेणी* में ज्यादातर *काम* राज्य सरकारों के जिम्मे हैं। इस दिशा में भारत सरकार राज्य सरकारों के प्रयासों की पूरक बनी हुई है। सारणी 1.1 {इस उद्धरण में शामिल नहीं किया गया है} उपरोक्त सन् 2004–05 के दौरान भारत सरकार द्वारा 'सामाजिक क्षेत्र' के लिए आवंटित बजट को दर्शाता है। जैसा कि बजट आवंटन से स्पष्ट है कि इन सेवाओं पर बहुत राशि खर्च की जाती है, *हालांकि ये जरूरी चीजों की कमी से जूझती रहती है*। ऐसी स्थिति में यह सुनिश्चित किया जाना और भी जरूरी हो जाता है कि जो भी खर्चा किया जाए उसका बेहतरीन उपयोग किया जाए।

इसके अलावा इस तरह से जो सेवाएं उपलब्ध करवाई जाती हैं वे *अपने* वेतनभोगी कर्मचारियों पर निर्भर हैं। इस तंत्र की सीमाओं की ओर अक्सर बार ध्यान दिलाया गया है। द वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट 2004 ('*सेवाओं का गरीबों के लिए काम करना*'), इस तरह से भारत के 200 प्राथमिक विद्यालयों मे आकस्मिक जाकर और अवलोकन करके अध्ययनकर्ताओं ने पाया कि *उनमें से आधों को उस दौरान जब विद्यालय गए कोई शैक्षणिक गतिविधि होती नहीं मिली*। सार्वजनिक–निजी साझेदारी (पीपीपी) सेवाओं को अपने भोगी कर्मचारियों के जरिए उपलब्ध करवाने की परंपरागत पद्धति का एक विकल्प है। विद्यालय के प्रबंधन के जरिए समुदाय की भागीदारी तथा सेवाएं देने में अलाभकारी सेवा प्रदाता संस्थाओं को शामिल करने को सरकार द्वारा सराहा व प्रोत्साहित किया जा रहा है।'' (पृष्ठ 14 और 15 पीपीपी)

''सामान्य तौर पर *सार्वजनिक सुविधाओं* व *सामाजिक सेवाओं* के खराब प्रदर्शन को नजदीक से देखने पर यह पता चलता है कि बीमारी इस तरह की गतिविधियों के 'एकाधिकार' वाले चरित्र में है। चूंकि अभी विद्यमान (वेतन भोगी) सेवा प्रदाता का कोई और विकल्प उपलब्ध नहीं है इसलिए नागरिकों के पास *''इसे अपनाने या छोड़ देने''* के अलावा कोई और विकल्प नहीं रह जाता। इस तरह कर्मचारी/नौकरशाही (निचले दर्जे की व ऊपरी) आलस्य, भ्रष्टाचार, व मनमानी में लिप्त होने की छूट ले सकते हैं। अतः यह

कहा गया है कि महत्वपूर्ण विभाजन सार्वजनिक–निजी का नहीं अपितु *एकाधिकार व प्रतिस्पर्धा* के बीच का है। इस संदर्भ में पीपीपी को प्रशासनिक सुधारों के उपाय के तौर पर देखा जा सकता है।

विकसित करने वाले/सेवा प्रदाता के चयन में *प्रतिस्पर्धात्मक बोली* अथवा *प्रतिस्पर्धात्मक सौदे/समझौते* 'प्रतिस्पर्धा का मौका देते हैं। चुनाव हो जाने के बाद सार्वजनिक सुविधा या सामाजिक सेवा के एकाधिकार जैसी स्थिति पर निगरानी व मूल्यांकन जैसी प्रक्रियाओं से निगाह रखी जाती है। और उपभोक्ता के हितों की रक्षा करने के लिए *'स्वतंत्र नियामक प्रणाली'* विकसित करके इसे और आगे बढ़ाया जा सकता है। सार्वजनिक–निजी साझेदारी के जरिए चलाई जा रही गतिवितधियों में सभी स्तरों पर 'पारदर्शिता' को सुनिश्चित करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। चूंकि *प्रतिस्पर्धात्मक बोली* की तुलना में *प्रतिस्पर्धात्मक सौदे/समझौते* कम पारदर्शी होते हैं। यह सुझाव दिया गया है कि 'अनुबंधों' व उनकी विषयवस्तु को *सरकारी लेखा परीक्षक* के क्षेत्राधिकार/दायरे में लाया जाए।'' (पृष्ठ 74–75)

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 (शिक्षाक्रम व शिक्षण विधियों संबंधी धारणाएं)

बच्चे उसी वातावरण में सीख सकते हैं जहां उन्हें लगे कि उन्हें महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। हमारे स्कूल आज भी सभी बच्चों को ऐसा महसूस नहीं करवा पाते। सीखने का आनंद व संतोष के साथ रिश्ता होने की बजाए भय, अनुशासन व तनाव से संबंध हो तो यह सीखने के लिए अहितकारी होता है। आज यह आवश्यक है कि हमारे सभी बच्चे यह महसूस करें कि वे सभी, उनका घर, उनका समुदाय, उनकी भाषा और संस्कृति महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें अनुभव के ऐसे संसाधनों के रूप में देखा जाए जिन्हें विद्यालय में जांचा तथा विश्लेषित किया जाना है; उनकी विविध क्षमताओं को मान्यता मिले; यह माना जाए कि सभी बच्चों में सीखने की क्षमता है और सभी की ज्ञान, एवं कौशलों तक पहुंच हो और वयस्क समाज उन्हें सबसे अच्छा करने के योग्य माने। ज्यों–ज्यों हमारे स्कूलों का विस्तार हो रहा है और ज्यादा संख्या में समाज के सभी वर्गों के बच्चों को हम उनमें शामिल कर रहे हैं, हम इन आवश्यकताओं की महत्ता के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूक हो रहे हैं। दोपहर का भोजन, ढांचागत सहायता और समावेशी शिक्षा के शिक्षाशास्त्रीय सरोकार वर्तमान में होने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण विकासात्मक बदलावों में से हैं। सभी प्रकार के शारीरिक दण्डों के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाने की ज़रूरत है। स्कूल की सीमाओं को समाज के प्रति अधिक उदार होना होगा। साथ ही, पाठ्यचर्या का बोझ और परीक्षा संबंधी तनाव के सभी आयामों पर तत्कालिक ध्यान देने की आवश्यकता है। प्राथमिक से लेकर माध्यमिक स्कूल और उसके बाद भी शारीरिक एवं भावनात्मक सुरक्षा हर प्रकार के सीखने की आधारशिला है। (पृष्ठ संख्या 14)

सीखना

अतः अवधारणात्मक विकास संबंधों को समृद्ध और प्रगाढ़ बनाने व नए अर्थों को प्राप्त करने की एक निरंतर प्रक्रिया है। इसके साथ उन सिद्धांतों का भी विकास होता है जो बच्चे प्राकृतिक व सामाजिक दुनिया के बारे में बनाते हैं। इसमें दूसरों के साथ अपने रिश्ते के संबंध में सिद्धांत भी शामिल होते हैं और ये सिद्धांत उन्हें यह बताते हैं कि चीजें जैसी हैं वैसी क्यों हैं, कारण व कारक के बीच क्या संबंध है और कार्य व निर्णय लेने के क्या आधार हैं। नज़रिए, भावनाएं और आदर्श, संज्ञानात्मक विकास के अभिन्न हिस्से हैं और भाषा विकास, मानसिक चित्रण, अवधारणाओं व तार्किकता से इनका गहरा संबंध है। जैसे–जैसे बच्चों

की अधिसंज्ञानात्मक क्षमताएं विकसित होती हैं, वे अपनी आस्थाओं के प्रति अधिक जागरूक होते जाते हैं और इस तरह अपने सीखने को स्वयं नियंत्रित व नियमित करने में सक्षम हो जाते हैं।

- सभी बच्चे स्वभाव से ही सीखने के लिए प्रेरित रहते हैं और उनमें सीखने की क्षमता होती है।
- अर्थ निकालना, अमूर्त सोच की क्षमता विकसित करना, विवेचना व कार्य, अधिगम की प्रक्रिया के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू हैं।
- बच्चे व्यक्तिगत स्तर पर एवं दूसरों से भी विभिन्न तरीकों से सीखते हैं– अनुभव के माध्यम से, स्वयं चीजें करने व स्वयं बनाने से, प्रयोग करने से, पढ़ने, विमर्श करने, पूछने, सुनने, उस पर सोचने व मनन करने से तथा गतिविधि या लेखन के ज़रिए अभिव्यक्त करने से। अपने विकास के मार्ग में उन्हें इन सभी तरह के अवसर मिलने चाहिएं।
- बच्चे मानसिक रूप से तैयार हों, उससे पहले ही उन्हें पढ़ा देना, बाद की अवस्थाओं में उनमें सीखने की प्रवृत्ति को प्रभावित करता है। उन्हें बहुत से तथ्य 'याद' तो रह सकते हैं लेकिन संभव है कि वे न तो उन्हें समझ पाएं, न ही उन्हें अपने आसपास की दुनिया से जोड़ पाएं।
- स्कूल के भीतर व बाहर, दोनों जगहों पर सीखने की प्रक्रिया चलती है। इन दोनों जगहों में यदि संबंध रहे तो सीखने की प्रक्रिया पुष्ट होती है। कला और कार्य, समग्र सीखने के अवसर प्रदान करते हैं जो सौंदर्यबोध से पुष्ट होता है। ऐसे अनुभव भाषायी रूप से ज्ञात चीजों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं विशेषकर नैतिक मुद्दों में ताकि प्रत्यक्ष अनुभवों से सीखा जा सके और जीवन में समाहित किया जा सके।
- सीखने की एक उचित गति होनी चाहिए ताकि विद्यार्थी अवधारणाओं को रटकर और परीक्षा के बाद सीखे हुए को भूल न जाएं बल्कि उसे समझ सकें और आत्मसात कर सकें। साथ ही, सीखने में विविधता व चुनौतियां होनी चाहिए ताकि वह बच्चों को रोचक लगे और उन्हें व्यस्त रख सके। ऊब महसूस होना इस बात का संकेत है कि वह कार्य बच्चा अब यांत्रिक रूप से दोहरा रहा है और उसका संज्ञानात्मक मूल्य खत्म हो गया है।
- सीखना किसी की मध्यस्थता या उसके बिना भी हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप से सीखने से सामाजिक संदर्भ व संवाद, विशेषकर अधिक सक्षम लोगों से संवाद विद्यार्थियों को उनके स्वयं के उच्च संज्ञानात्मक स्तर पर कार्य करने का मौका देते हैं। (पृष्ठ संख्या 18)

शिक्षण प्रक्रिया

कक्षा में शिक्षण और अध्यापन की प्रक्रिया इस प्रकार नियोजित हो कि वह विद्यार्थियों की विविध आवश्यकताओं को पूरा कर सके। शिक्षकों को ऐसी सकारात्मक कार्यनीति अपनाने की आवश्यकता है ताकि असमर्थ समझे जाने वाले विद्यार्थियों सहित सबको शिक्षा का माहौल मिले। ऐसा सहयोगी शिक्षकों तथा स्कूल के बाहर की संस्थाओं की मदद से किया जा सकता है। (पृष्ठ संख्या 19)

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित) में सीखना व शिक्षाक्रम

3.7 शिक्षा के हर स्तर के लिए न्यूनतम अधिगम स्तरों का निर्धारण किया जाएगा। बच्चों देश के विभिन्न भागों में रह रहे लोगों के विविध सांस्कृतिक व सामाजिक रीति–रिवाजों की समझ विकसित करने को बढ़ावा देने के लिए प्रयास किए जाएंगे। संपर्क भाषा को बढ़ावा देने के अलावा, किसी एक भाषा में मूल रूप से लिखी पुस्तकों को दूसरी भाषा में अनुवाद करवाने वाले कार्यक्रमों की शुरुआत की जाएगी और बहुभाषिक शब्दकोष व शब्दसूचियों का प्रकाशन किया जाएगा। किसी भी युवा को

अपनी आत्म–छवि व अनुभव के आधार पर अपने भारत का पुनः अनुसंधान करने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित) में शिक्षा व समाज

4.2 शिक्षा का महिलाओं की स्थिति में मूलभूत बदलाव लाने वाले एक कारक की तरह उपयोग किया जाएगा। बीते समय पैदा हुई विकृतियों को बेअसर करने के लिए महिलाओं के पक्ष में सोचे–समझे विचार होंगे। महिलाओं के सशक्तिकरण में राष्ट्रीय शिक्षा तंत्र एक सकारात्मक और हस्तक्षेप वाली भूमिका अदा करेगा। पुनर्निर्मित शिक्षाक्रम, पाठ्यपुस्तकों, प्रशिक्षणों तथा शिक्षकों, निर्णय लेने वालों व प्रशासकों के उन्मुखीकरण, शैक्षणिक संस्थानों की सक्रिय सहभागिता के जरिए यह नए तरह के मूल्यों के विकास को प्रोत्साहित करेगा। यह एक किस्म से भरोसे व सामाजिक इंजीनियरिंग का काम होगा। विभिन्न पाठ्यक्रमों में महिलाओं के बारे में अध्ययनों को प्रोत्साहित किया जाएगा और शैक्षणिक संस्थानों को महिलाओं के और अधिक विकास के लिए सक्रिय कार्यक्रमों को चलाने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित) में समाज व विशेष समुदाय

4.6 **अनुसूचित जनजातियों को दूसरों के बराबर लाने के लिए निम्न उपाय अविलंब शुरू किए जाएंगेः**

ii) कई मामलों में उनकी अपनी अलग भाषा सहित अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश की कुछ अलग विशेषताएं होती हैं। यह प्रादेशिक भाषा तक पहुंचने का इंतजाम करने अथवा रास्ता बनाने के साथ–साथ आरंभिक स्तर पर उनके लिए अलग शिक्षाक्रम विकसित करने व आदिवासी भाषा में शिक्षण सामग्री बनाने की जरूरत को रेखांकित करता है।

iii) आदिवासी इलाकों में अनुसूचित जनजाति के पढ़े–लिखें व होनहार युवाओं को शिक्षक बनने के लिए प्रेरित किया जाएगा व प्रशिण दिया जाएगा।

vii) जैसा कि उनमें विपुल रचनात्मक प्रतिभा है, सभी स्तरों की शिक्षा का शिक्षाक्रम आदिवासियों की समृद्ध सांस्कृतिक पहचान के प्रति जागृति लाने वाला बनाया जाएगा।

4.8 कुछ अल्पसंख्यक समुदाय शैक्षणिक दृष्टि से वंचित या पिछड़े हैं। समानता व सामाजिक न्याय की खातिर इन समुदायों की शिक्षा पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाएगा। यह उनकी भाषा व संस्कृति को संरक्षण देने वे उनके अपने शैक्षणिक संस्थान स्थापित व संचालित करने के संविधान में किए गए वादे को स्वाभाविक रूप से पूरा कर देगा। साथ ही सभी विद्यालयी गतिविधियों व पाठ्यपुस्तक निर्माण में तटस्थता दिखाई देने लगेगी, और मुख्य शिक्षाक्रम के अनुरूप समान राष्ट्रीय उद्देश्यों व आदर्शों की सराहना पर आधारित एकीकरण को प्रोत्साहित करने वाले सभी संभावित उपाय कर दिए जाएंगे।

4.9 शारीरिक व मानसिक रूप से निशःक्त लोगों को सामान्य विकास के लिए तैयार करने व जिन्दगी का सामना साहस व आत्मविश्वास से करने के योग्य बनाने के लिए आम समुदाय की तरह बराबरी के साझीदार/भागीदार की तरह समावेशित करना, एक उद्देश्य होना चाहिए। इस संदर्भ में निम्न उपाय किए जाएंगेः

i) जहां भी संभव हो पेशीय संचालन संबंधी निःशक्तता व अन्य हल्की निशःक्तता वाले बच्चों की शिक्षा और आम बच्चों के साथ ही होगी।

ii) निशःक्तजनों को व्यावसायिक शिक्षा देने का पर्याप्त इंतजाम किया जाएगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित) में शिक्षाक्रम व सीखना

4.11 जिस प्रकार के व जिस संख्या में समाज को मानव संसाधन की जरूरत है उनके विकास के लिए कौशलों का सतत उन्नयन/विकास आज के विकास का एक गंभीर मुद्दा है। चूंकि लाभार्थियों द्वारा विकास के कार्यक्रमों में सहभागिता एक बहुत महत्व की बात है, अतः राष्ट्रीय लक्ष्यों जैसे गरीबी उन्मूलन, राष्ट्रीय एकता, पर्यावरण संरक्षण, लोगों की सांस्कृतिक रचनात्मकता को ऊर्जस्वित करना, छोटे परिवार के आदर्श का पालन करना, महिला समानता को बढ़ावा देना आदि जैसे राष्ट्रीय लक्ष्यों के साथ जुड़े प्रौढ़ शिक्षा के सुनियोजित कार्यक्रमों को आयोजित किया जाएगा व मौजूदा कार्यक्रमों की समीक्षा की जाएगी और उन्हें सुदृढ़ किया जाएगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 86 (1992 में संशोधित) में कला

8.1 आज के मौजूदा औपचारिक शिक्षा तंत्र व देश की समृद्ध व विविध सांस्कृतिक परंपराओं के बीच अलगाव को पाटे जाने की जरूरत है। आज की आधुनिक तकनीक की तल्लीनता को हमारी नई पीढ़ी को भारत के इतिहास व संस्कृति में मौजूद जड़ों से काटने की अनुमति नहीं दी जा सकती। गैर सांस्कृतिकरण, अमानवीयकरण और अलगाववाद को हर कीमत पर मिटाया जाएगा। शिक्षा देश की सतत सांस्कृतिक परंपरा व बदलाव लाती तकनीकों के बीच सुन्दर मेल विकसित कर सकती है और करना ही चाहिए।

8.2 शिक्षाक्रम और शिक्षा की प्रक्रिया सांस्कृतिक विषयवस्तु के अधिकाधिक संभव प्रकारों व अभिव्यक्ति रूपों से समृद्ध होगी। बच्चे सुन्दरता, सद्भाव व परिष्कार के प्रति संवेदनशीलता विकसित करने के योग्य बनेंगे। समुदाय की मौखिक व लिखित दोनों परंपराओं को उपयोग मे लेते हुए समुदाय में मौजूद जानकार/गुणी व्यक्तियों को उनकी औपचारिक शैक्षणिक योग्यता की परवाह किए बिना शिक्षा मे सांस्कृतिक समृद्धि लाने के लिए बुलाया जाएगा। सांस्कृतिक परंपरा को बरकरार रखने व आगे बढ़ाने के लिए शिष्यों को परंपरागत तरीके से सिखाने वाले पुराने जानकारों/कलाकारों की भूमिका को समर्थन व मान्यता दी जाएगी।

आलेख तैयार करने के लिए विचारणीय पंक्तियां व प्रश्न

- कुछ खास अंशों में जब सरकार के कल्याणकारी कामों का वर्णन किया गया तब शिक्षा को एक हितैषी की तरह दर्शाया गया न कि एक अधिकार की तरह।
- दस्तावेजों का जोर इस बात पर था कि शिक्षा के जरिए सांस्कृतिक परंपराओं को आगे बढ़ाए जाने की जरूरत है।
- पीपीपी रिपोर्ट में कुछ खास शब्दावली है जो अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र से उभर कर आती है। जैसे– एकाधिकार, सौदे/समझौते, प्रतिस्पर्धा, सार्वजनिक सुविधाएं, उपभोक्ता, इस शब्दावली को शिक्षा/पढ़ाई–लिखाई के साथ जोड़कर देखने की कोशिश करिए। जब हम अधिकार– जिम्मेदारी – नागरिक– सहयोग आदि शब्दावली को शिक्षा के जोड़ते हैं तो अर्थ में कैसा बदलाव आ जाता है ?
- किसी खास दस्तावेज में हर स्तर पर सामाजिक प्रतिस्पर्धा को समाज में सेवाओं के बेहतर प्रदर्शन के लिए सकारात्मक व सामान्य बात की तरह लिया गया है।

- शिक्षा को समाज में बदलाव लाने में सक्षम माना गया है।
- निशःक्त बच्चों को मुख्यधारा में शामिल करने के लिए भिन्न–भिन्न दस्तावेजों में भिन्न–भिन्न पद्धतियां हैं।
- कुछ खास दस्तावेजों में माना गया है कि बच्चे किसी खास स्तर के अंत में जो कुछ सीखेंगे उसे साफ–साफ तय किया जा सकता है।
- किसी खास दस्तावेज में तकनीक के सांस्कृतिक परंपराओं को भ्रष्ट करने में सक्षम होने का विचार उभर कर आता है।

आओ कुछ वाक्यों की तुलना करें : बच्चे, शिक्षा और खास समुदायों के लोगों आदि के बारे में क्या मान्यता ली गई है।

1. *अ). ''शिक्षा के हर स्तर के लिए सीखने के न्यूनतम अधिगम स्तर निर्धारित किए जाएंगे।'' और*

   ब). सीखने की एक उचित गति होनी चाहिए ताकि विद्यार्थी अवधारणाओं को रट कर और परीक्षा के बाद सीखे हुए को भूल न जाएं बल्कि उसे समझ सकें और आत्मसात कर सकें। साथ ही, सीखने में विविधता व चुनौतियां होनी चाहिएं ताकि वह बच्चों को रोचक लगे और उन्हें व्यस्त रख सके। ऊब महसूस होना इस बात का संकेत है कि वह कार्य बच्चा अब यांत्रिक रूप से दोहरा रहा है और उसका संज्ञानात्मक मूल्य खत्म हो गया है।

2. *अ) ''जैसा कि उनमें विपुल रचनात्मक प्रतिभा है, सभी स्तरों की शिक्षा का शिक्षाक्रम आदिवासियों की समृद्ध सांस्कृतिक पहचान के प्रति जागृति लाने वाला बनाया जाएगा।'' और*

   ब) ''अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सांस्कृतिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों की विविधता वाली सामग्री व सूचना प्रकाशित व प्रसारित करने व लेने–देन के लिए प्रोत्साहित करेगा।''

3. *अ).* ज्यों–ज्यों हमारे स्कूलों का विस्तार हो रहा है और ज्यादा संख्या में समाज के सभी वर्गों के बच्चों को हम उनमें शामिल कर रहे हैं, हम इन आवश्यकताओं की महत्ता के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूक हो रहे हैं।

   ब). ''सामान्य तौर पर *सार्वजनिक सुविधाओं* व *सामाजिक सेवाओं* के खराब प्रदर्शन को नजदीक से देखने पर यह पता चलता है कि बीमारी इस तरह की गतिविधियों के 'एकाधिकार' वाले चरित्र में है। चूंकि अभी विद्यमान (वेतन भोगी) सेवा प्रदाता का कोई और विकल्प उपलब्ध नहीं है इसलिए नागरिकों के पास ''इसे अपनाने या छोड़ देने'' के अलावा कोई और विकल्प नहीं रह जाता।''

4. *अ)* सभी बच्चे स्वभाव से ही सीखने के लिए प्रेरित रहते हैं और उनमें सीखने की क्षमता होती है।**...**स्कूल के भीतर व बाहर, दोनों जगहों पर सीखने की प्रक्रिया चलती है। इन दोनों जगहों में यदि संबंध रहे तो सीखने की प्रक्रिया पुष्ट होती है। कला और कार्य, समग्र सीखने के अवसर प्रदान करते हैं जो सौंदर्यबोध से पुष्ट होता है। और

   ब) जिस प्रकार के व जिस संख्या में समाज को मानव संसाधन की जरूरत है उनके विकास के लिए कौशलों का सतत उन्नयन/विकास आज के विकास का एक गंभीर मुद्दा है।

जरूरत पड़ने पर वाक्यों को सही कीजिए

एक खास दस्तावेज :

- में इस बात पर बहुत बल दिया गया है कि बच्चे समाज से सीखते हैं
- यह कहता हुआ लगता है कि सीखना केवल इसलिए नहीं हो रहा है कि सिखने की प्रक्रियाएं चल रही हैं
- इस तरफ इशारा करता है कि शिक्षाक्रम परीक्षा का दबाव बनाता है

- जो ''राष्ट्रीय लक्ष्यों'' से मेल खाए उसे बेहतर व्यक्ति जीवन की तरह परिभाषित किया गया है
- समाज के कल्याण को बढ़ाने के लिए लोगों को सारी जिन्दगी कौशल सिखाने को महत्वपूर्ण माना गया है।

मेरे व मेरे समूह के धारणाओं के बारे में विचार

5 या 6 लोगों के समूह के साथ चर्चा आयोजित कीजिए। व्यक्ति और समाज वाले अंश में जो बिन्दु आए हैं उन्हें शामिल कीजिए। और 2500 शब्दों वाला एक आलेख तैयार कीजिए या एक पोस्टर प्रदर्शनी लगाइये जिसमें इस बात का सार शामिल हो कि नीतियां शिक्षा के बारे में धारणाएं कैसे बनाती हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

- *यहां ''मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा पत्र''(''यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स'')– से कुछ उद्धरण दिए गए हैं जिन विचारों की चर्चा व्यक्ति और समाज के संदर्भ में की गई है ये उनसे किस तरह मिलते– जुलते से और किस तरह अलग ? एक पृष्ठ का आलेख तैयार करने की रूपरेखा पर विचार करते हुए– यह बताएं कि यहां आई धारणाओं के आधार पर आप विद्यालय के बच्चों के साथ कैसे बातचीत/व्यवहार करेंगे।*

अनुच्छेद 1 : सभी व्यक्ति जन्म के समय गरिमा और अधिकारों के मामले में समान व स्वतंत्र होते हैं। वे तर्क और विवेक से संपन्न होते हैं और उन्हें एक–दूसरे के प्रति भ्रातृत्व की भावना के साथ काम/व्यवहार करना चाहिए।

अनुच्छेद 2 : इस घोषणा पत्र में उल्लेख है कि हर व्यक्ति जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक या अन्य विचार, राष्ट्रीय या सामाजिक मूल, संपत्ति, जन्म या अन्य कोई भी स्थिति जैसे किसी भी भेदभाव के बिना सभी अधिकारों व स्वतंत्रता का हकदार है। और इससे भी बढ़कर एक व्यक्ति के देश या प्रदेश की राजनैतिक, क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। चाहे वह स्वनिर्भर/आत्मनिर्भर/स्वतंत्र हो, न्यास हो, गैर–स्वशासित हो, या संप्रभुता की किसी भी अन्य सीमा के अंतर्गत हो।

अनुच्छेद 3 : हर किसी को जिन्दगी, स्वतंत्रता व व्यक्ति की सुरक्षा का अधिकार है।

अनुच्छेद 4 : किसी भी व्यक्ति को गुलामी व दासता की स्थिति में न रखा जाए, गुलामी और गुलामों के व्यापार का इसके सभी रूपों में निषेध किया जाएगा।

अनुच्छेद 5 : किसी भी व्यक्ति को अत्याचार, क्रूरता, अमानवीयता, अपमानजनक व्यवहार या सजा के अधीन नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 6 : सभी को हर कहीं कानून के समक्ष एक व्यक्ति के तौर पर पहचाने जाने का हक है।

अनुच्छेद 7 : कानून के समक्ष सभी लोग समान हैं और बिना किसी भेदभाव के कानूनी संरक्षण प्राप्त करने के हकदार हैं। इस घोषणा पत्र के उल्लंघन में किसी भी प्रकार के भेदभाव के खिलाफ और

इस तरह के भेदभाव को किसी भी तरह की शह देने के खिलाफ सभी को समान संरक्षण का हक प्राप्त है।

यहां राष्ट्रीय शिक्षा नीति 66–68 से एक उद्धरण दिया गया है, इस अंश में समाज और शिक्षा के बारे में क्या धारणाएं ली गई हैं ?

1.01 हिन्दुस्तान का भविष्य अब उसकी कक्षाओं में संवरेगा। ऐसा हमारा विश्वास है कोई शब्दाडंबर/ लफ्फाजी नहीं। विज्ञान और तकनीक की इस दुनिया में वह शिक्षा ही है जो समृद्धि, कल्याण, व लोगां की सुरक्षा का स्तर तय करती है। हमारे विद्यालयों व महाविद्यालयों से निकलने वाले लोगों की संख्या व गुणवत्ता पर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के महान उद्यम में हमारी सफलता निर्भर करेगी जिसका मुख्य मकसद हमारे लोगों के जीवन स्तर को ऊपर उठाना है।

- इसमें कुछ भी असामान्य नहीं है कि हम शिक्षा के बारे में अलग–अलग विचार सुनते हैं। हम भारत के दो पूर्व राष्ट्रपतियों के वक्तव्य से अंश पढें। देखें कि किस तरह दो लोगों द्वारा व्यक्त विचारों में देश और समाज की धारणा किस तरह समान और भिन्न है ? उनमें से कौन इंसानों की समृद्धि को आर्थिक उपलब्धि के तौर पर देखता है ? आपको ऐसा क्यों लगता है कि दोनों ने नागरिक शब्द का इस्तेमाल इंसानों के लिए किया है ?

निम्न उद्धरणों का श्रेय सर्वपल्ली राधाकृष्णन को दिया जाता है

1. ''शिक्षा का अंतिम लक्ष्य एक मुक्त व रचनात्मक मनुष्य होना है, जो ऐतिहासिक परिस्थितियों और प्राकृतिक विपदाओं के खिलाफ लड़ सके।''
2. दूसरे अवसर पर वह इस प्रकार है – ''शिक्षा का उद्देश्य नए मूल्यों के लिए जमीन तैयार करना है और उन्हें हकीकत में बदलना है''।

पचास साल बाद भारत के एक दूसरे राष्ट्रपति की पंक्तियां

1. कलाम का कहना है ''इस सबके अलावा शिक्षा का उद्देश्य ऐसे सचेत नागरिक रचना होना चाहिए जो भारत को आर्थिक रूप से समृद्ध, प्रसन्न, शांतिपूर्ण और मजबूत राष्ट्र बनाने में बदलने में भागीदारी कर सके।''
2. ''शिक्षा तंत्र का उद्देश्य चरित्र, मानवीय मूल्य व तकनीक के जरिए सीखने की क्षमता को बढ़ाना और बच्चों में भविष्य का सामना करने का आत्मविश्वास पैदा करना होना चाहिए।''
3. ''शिक्षा किसी राष्ट्र के विकास व समृद्धि के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है। भारत खुद को 2020 तक विकसित राष्ट्र में तब्दील कर लेने की प्रक्रिया में है। अभी हमारे यहां 35 करोड़ लोग हैं जिन्हे उभरते आधुनिक भारत व दुनिया के अनुकूल रोजगार लायक कौशल पाने के लिए शिक्षा/साक्षरता की व अन्य बहुत कुछ की जरूरत है।''

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई 2

दार्शनिक चिन्तन के तरीके और उपकरण

हम सभी दैनिक जीवन में बहुत–सी समस्याओं पर विचार करते हैं और किन्हीं नतीजों पर भी पहुंचते हैं। समस्याओं पर विचार करने और नतीजों पर पहुंचने के लिए हम विवेक (बुद्धि) का सहारा लेते हैं। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को अपनी स्नातक की पढ़ाई पूरी करने के बाद यह निर्णय लेना हो कि वह शिक्षण के व्यवसाय में जाए अथवा लिपिकीय व्यवसाय में। अपने बारे में किसी भी निर्णय को लेने से पहले उसे बहुत–सी चीजों पर विचार करना होगा। हो सकता है कि उसके निर्णय का आधार बेहतर आय अथवा व्यवसाय से मिलने वाला सामाजिक सम्मान हो। यह भी संभव है कि वह अपनी रुचि के बारे में सोचे अथवा काम से मिलने वाले संतोष के बारे में सोचे या जीवन की सार्थकता को इसका आधार बनाए। इन तमाम चीजों पर विचार करते हुए वह किसी नतीजे पर पहुंचेगा। यदि कोई उससे इस निर्णय के आधार पूछे कि आपने यह व्यवसाय क्यों चुना है, तो वह अपने निर्णय के आधारों को बता सकता है कि उसने यह निर्णय क्यों किया।

आमतौर पर हम रोजमर्रा के जीवन में आने वाली सभी समस्याओं पर सोचते हैं और किसी तरह के नतीजे पर पहुंचते हैं। लेकिन अनेक बार ऐसा भी हो सकता है कि अपने नतीजे के पक्ष में ठोस आधार नहीं हों अथवा नतीजे के आधारों पर इतना स्पष्ट तरीके से नहीं सोचा हो। कहने का आशय है कि हम किसी भी नतीजे पर पहुंचने के लिए विचार प्रक्रिया से गुजरते हैं, भले ही वह व्यक्त हो अथवा नहीं हो। यह भी संभव है कि अपने नतीजे के पक्ष में प्रस्तुत किए आधार सही नहीं हों। अतः सवाल यह खड़ा होता है कि हम कैसे पता करें कि हम जिन नतीजों पर पहुंच रहे हैं, वे सही हैं अथवा जिन आधारों से नतीजा निकाला जा रहा है, वह सही है ?

ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में हम किन्हीं समस्याओं पर विचार करते हुए नतीजों पर पहुंचते हैं। चाहे फिर वह विज्ञान हो, गणित हो, सामाजिक विज्ञान, इतिहास अथवा दर्शन; इत्यादि हो। किन्हीं आधारों से नतीजों पर पहुंचने के सिद्धान्त और कुछ खास तरीके होते हैं। दर्शन में, खासतौर से तर्कशास्त्र में, इस विषय पर चर्चा की जाती है। हालांकि दार्शनिक चिन्तन के तरीके एवं तर्कशास्त्र एक–दूसरे के पर्याय नहीं हैं। दर्शन में चिन्तन के और भी तरीके उपयोग में लाए जाते हैं। हालांकि ज्ञान के प्रत्येक अनुशासन में तर्क का उपयोग किया जाता है लेकिन इस पर हम थोड़ा रुककर विचार करेंगे। इस विषय पर आने से पहले, शायद, संक्षेप में यह समझना उचित होगा कि ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में चिन्तन के क्या तरीके उपयोग में लाए जाते हैं और ये तरीके दार्शनिक चिन्तन के तरीकों से किस प्रकार भिन्न होते हैं?

अलग–अलग समस्याओं पर विचार करने और नतीजे तक पहुंचने के लिए अलग–अलग तरीके उपयोग में लाए जाते हैं। यदि हम ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों पर ध्यान दें (इसके लिए प्रथम वर्ष की अध्ययन सामग्री में अध्याय पांच को पुनः देख सकते हैं जिसमें ज्ञान के अलग–अलग क्षेत्रों में ज्ञान अर्जन के तरीकों और उसके प्रमाणीकरण की चर्चा की गई है) तो हमें किसी समस्या पर विचार करने और नतीजों पर पहुंचने के तरीकों में साफ फर्क दिखाई देगा। विज्ञान में किसी समस्या पर विचार करने और नतीजे पर पहुंचने के लिए जिन तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है वे गणित के तरीकों से एकदम भिन्न होते हैं। इसी तरह सामाजिक विज्ञानों में जिन तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है वे इतिहास से भिन्न होते हैं। इस फर्क का मुख्य कारण यह होता है कि हमारे सामने जो समस्या है उसकी विषयवस्तु क्या है। ज्ञान के सभी

क्षेत्रों में अध्ययन की विषयवस्तु अलग–अलग होती है और इस मायने में दर्शन की विषयवस्तु भी इन सभी से भिन्न होती है। अतः दर्शन में सोचने के तरीके भी बाकी ज्ञान के क्षेत्रों से अलग होते हैं। इस फर्क को हम कुछ उदाहरणों के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे।

मान लीजिए, हम यह पता लगाना चाहते हैं कि ''क्या पेड़–पौधे श्वसन करते हैं'', तो इसका पता कैसे लगाएंगे ? आप समझ ही गए होंगे कि यह पता लगाना विज्ञान के क्षेत्र का काम है और आपने इसके अनेक प्रयोग विज्ञान की पुस्तकों में पढ़े भी होंगे। इस बात का पता लगाने के लिए वैज्ञानिक अनेक पौधों पर प्रयोग करके देखेंगे। लेकिन विज्ञान में सिर्फ प्रयोग करने से ही बात नहीं बनती। विज्ञान में प्रयोग तो किसी नतीजे तक पहुंचने का एक चरण है। इसके लिए और बहुत से चरण होते हैं जिन्हें पूरा करना होता है और इन सभी चरणों को पूरा होने पर ही किसी नतीजे पर पहुंचा जाता है।

यह एक सामान्य बात है कि किसी भी क्षेत्र में सबसे पहला चरण समस्या को चिन्हित करना होता है। अर्थात् इसे सुनिश्चित करना कि हम जानना क्या चाहते हैं या जिसे जानना चाहते हैं उसे सूत्रबद्ध करना। विज्ञान में जब किसी समस्या को विचार या खोज के लिए प्रस्तुत किया जाता है, उसे प्राक्कल्पना बनाना कहते हैं। जैसे, हमने समस्या रखी है– ''क्या पेड़–पौधे श्वसन करते हैं'', हमने सवाल के तौर पर इस समस्या को जानने के लिए अपने सामने रखा है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे प्राक्कल्पना बनाना कहते हैं। अर्थात् एक वैज्ञानिक के लिए प्राक्कल्पना होगी ''पेड़–पौधे श्वसन करते हैं''। प्राक्कल्पना बनने या बनाने की अपनी एक अलग कहानी है। प्राक्कल्पना भी हवा में नहीं बनती। यदि कोई व्यक्ति कहे कि वैज्ञानिक खोज के लिए मेरी प्राक्कल्पना है कि 'आकाश में पेड़ होते हैं', तो वैज्ञानिक तो दूर कोई भी आम आदमी कहेगा कि यह प्राक्कल्पना है ही नहीं अथवा यह फालतू की प्राक्कल्पना है। किसी प्राक्कल्पना के बनने से पहले उस व्यक्ति के मन में किसी तरह की समझ अथवा अनुभव होते हैं और जिसके सत्य होने की संभावना होती है लेकिन उसे बिना परखे सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता। जब प्राक्कल्पना बन जाती है तब वैज्ञानिक उस प्राक्कल्पना को जांचने के लिए प्रयोग करते हैं। यह जानने के लिए कि पेड़–पौधे श्वसन करते हैं वैज्ञानिक सिर्फ एक किस्म के पौधों पर ही प्रयोग नहीं करेंगे बल्कि वे अनेक तरह के पौधों पर प्रयोग करेंगे। अलग–अलग परिस्थितियों में उपलब्ध पौधों पर प्रयोग करेंगे। प्रयोग करते हुए लगातार अवलोकन करते रहेंगे और उन्हें दर्ज करेंगे। यदि सभी तरह के पौधों पर प्रयोग करने पर यह प्राक्कल्पना खरी उतरती है तो वे अपने नतीजों का सामान्यीकरण करते हुए कहेंगे कि ''सभी पेड़–पौधे श्वसन करते हैं''। यदि कहीं भी कोई ऐसा पौधा मिल गया जो श्वसन नहीं करता हो तो प्राक्कल्पना ध्वस्त हो जाएगी। इस पूरी प्रक्रिया में बहुत–सी प्राक्कल्पनाएं असत्य भी सिद्ध हो जाती हैं और प्राक्कल्पनाओं में बदलाव करके पुनः प्रयोग किए जाते हैं। लेकिन मौटेतौर पर कह सकते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों में प्राक्कल्पना बनाने, प्रयोग करने, अवलोकन करने, आंकड़े इकट्ठे करने, सामान्यीकरण करते हुए किसी एक नतीजे पर पहुंचा जाता है। सभी प्राकृतिक विज्ञानों में नतीजों तक पहुंचने के यही तरीके इस्तेमाल होते हैं।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर आपने यह गौर किया होगा कि प्राकृतिक विज्ञानों की विषयवस्तु प्रयोगकर्ता के सामने होती है, जिस पर अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं। यह विषयवस्तु प्राकृतिक जगत से होती है और जो प्रयोग को किसी तरह प्रभावित नहीं करती। जिन पौधों पर प्रयोग किया गया है, यदि वे एक समय में छोटे हैं और कुछ समय बाद बड़े हो गए हैं तो समय के इस अन्तराल और पौधों के बड़े होने से जिस समस्या पर विचार किया जा रहा है, उसमें कोई बदलाव नहीं आता। प्राकृतिक विज्ञान की यह भी खासियत है कि जब तक कोई दूसरा वैज्ञानिक अन्य प्रयोगों के जरिए इस बात को असत्य साबित नहीं कर दे तब तक इसे सभी जगहों पर सत्य माना जाएगा। कोई यह नहीं कह सकता कि हम छत्तीसगढ़ या

उत्तराखंड में तो इसे सत्य मानते हैं लेकिन राजस्थान या जर्मनी में सत्य नहीं मानेंगे। कहने का मतलब है कि विज्ञान के नतीजे गलत साबित नहीं होने तक सार्वभौमिक रूप से मान्य और सत्य होते हैं। इसके साथ ही प्राकृतिक विज्ञानों में कार्य–कारण का संबंध ज्यादा मजबूत होता है। अर्थात्, मान लीजिए, कोई कहे कि पानी को शून्य डिग्री तापमान रखें तो वह जम जाएगा; यदि हम पानी के शून्य डिग्री सेल्सियस पर रखने को कारण मानें और जमने को कार्य या परिणाम मानें तो ऐसा निश्चित तौर पर होगा। अर्थात् प्राकृतिक विज्ञानों के नतीजे सार्वभौमिक और कार्य–कारण का संबंध ज्यादा सशक्त होता है।

मानवीय समाज या व्यक्तियों से जुड़ी समस्याओं पर विचार करना प्राकृतिक विज्ञानों से मुश्किल होता है और किन्हीं नतीजों पर पहुंचने का तरीका भिन्न होता है। लेकिन इस भिन्नता की वजह क्या है, इसे एक उदाहरण से समझने का प्रयास करते हैं।

मान लीजिए, हरियाणा की खाप पंचायतों से उठे सगोत्र विवाह के विवाद के बाद समाजशास्त्र का कोई विद्यार्थी यह जानना चाहे कि सगोत्र विवाह को लेकर हरियाणा के अमुक समुदाय में क्या मान्यताएं हैं, तो वह क्या करेगा ? निश्चित ही, वह व्यक्ति हरियाणा के अमुक समुदाय के लोगों के साथ इस विषय पर बात करेगा। यदि हरियाणा का अमुक समुदाय सगोत्र विवाह का विरोधी है तो इस समुदाय के लोगों से कारण जानने की कोशिश करेगा। यह भी जानने की कोशिश करेगा कि हरियाणा के अमुक समुदाय में भी किन वर्गों के लोग इसका ज्यादा विरोध करते हैं और किन के कम करते हैं। यदि इस समाज में इस विषय पर किसी तरह का साहित्य उपलब्ध है तो उससे भी जानने का प्रयास करेगा कि उसमें किस तरह के कारण बताए गए हैं। इसके बाद वह किसी नतीजे पर पहुंचेगा।

हम देख सकते हैं कि इस अध्ययन की विषयवस्तु प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न है। अपने नतीजे तक पहुंचने के लिए समाजशास्त्र के विद्यार्थी ने इसके लिए समाज के प्रतिनिधियों से चर्चा की और वह कोई एक व्यक्ति या एक वर्ग के व्यक्तिओं के साथ ही नहीं बल्कि एकाधिक व्यक्तियों से बात करेगा और यह संख्या कम से कम इतनी होनी चाहिए जिसे प्रतिनिधिक माना जा सके। विषयवस्तु का यह फर्क चिन्तन के तरीकों और नतीजे के लिए प्रस्तुत किए जा रहे आधारों में भी है। सामाजिक विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञान की भांति प्रयोग नहीं किए जा सकते। हालांकि किसी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में आंकड़े इकट्ठे करना, आंकड़ों में पैटर्न देखना, उनका विश्लेषण करना और सामान्यीकरण करते हुए किन्हीं नतीजों पर पहुंचा जाता है। सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन करने वाले की विषयवस्तु सचेतन व्यक्तियों के समाज अथवा व्यक्तियों के द्वारा गढ़ी गई संस्थाएं होती हैं। दूसरे, यह कि अध्ययन करने वाला व्यक्ति स्वयं भी एक व्यक्ति है। इसका मतलब है कि जो अध्ययन कर रहा है उसका एक मूल्यबोध और चेतना है। यह मूल्यबोध और चेतना नतीजों तक पहुंचने में बहुत–सी व्याख्याओं के लिए गुंजाइश मुहैया कराती है और इसका असर नतीजों पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति प्राकृतिक संसाधनों के गैर–बराबर बंटवारे को समाज के लिए अनुचित नहीं मानता है तो उसके द्वारा एकत्रित किए गए आंकड़े और नतीजे उस व्यक्ति से भिन्न होंगे जो इसे अनुचित मानता है।

सामाजिक विज्ञानों में किसी एक समाज पर किए गए अध्ययन के नतीजों का सभी समाजों के संदर्भ में सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। साथ ही सामाजिक विषयों के बारे में अध्ययनों से प्राप्त नतीजे भी उस हकीकत को बदल सकते हैं जो अध्ययन से प्राप्त हो रही है। मान लीजिए, खाप पंचायत के निर्णयों से सरकार या समाज के लोग जागरूक हो जाएं और इसे अनुचित करार दें तो यह हकीकत भी कुछ समय बाद एक हद तक बदल जाएगी या समय के साथ होने वाले बदलावों से बदल जाएं। अर्थात् ये

नतीजे सार्वभौम नहीं होते और सामाजिक हकीकत ऐसी होती है जो बदलती रहती है। कहने का मतलब है कि सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन करने वाले की चेतना नतीजों पर फर्क डालती है और क्योंकि अध्ययन करने वाले व्यक्ति होते हैं और उनके द्वारा एकत्रित आंकड़ों की प्रकृति ऐसी होती है कि वह बहुत हद तक अध्ययन करने वाले की व्याख्याओं पर निर्भर रहती है। अतः अध्ययन करने वाले का नजरिया भी विचार करने और नतीजे निकालने पर असर डालता है।

इतिहास का मामला और भी जटिल है। मानवीय समाज के बारे में किए जाने वाले अध्ययन में आंकड़े इकट्ठे करने और नतीजे निकालने के लिए वह समाज सामने होता है। लेकिन इतिहास के अध्ययन की समस्त विषयवस्तु ही अतीत के गर्त में दबी होती है। अतीत के बारे में उपलब्ध साहित्य भी व्यक्तियों द्वारा लिखा जाता है। अतीत में घटी घटनाओं को देखने का इतिहासकारों का अपना नजरिया होता है और अतीत के बारे में उपलब्ध सामग्री एवं साहित्य को वे अपनी नजर से देखते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय समाज पर अंग्रेजी शासन के क्या प्रभाव पड़े, इसे समझना थोड़ा टेढ़ा काम है। इसको जानने के तरीके वे नीतियां हो सकती हैं जिन्हें अंग्रेजों ने लागू किया और उस समय के लोगों द्वारा लिखी गई पुस्तकें, पत्र, समाचार पत्र आदि हो सकते हैं। लेकिन किसी भी नीति को लेकर उस जमाने के लोगों एवं इतिहासकारों में विवाद तो संभव है ही। जैसे कि, भारत में मैकॉले द्वारा लागू की गई शिक्षा व्यवस्था के प्रभावों को लेकर सभी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था भारतीय समाज के लिए अच्छी थी क्योंकि इसने पहली बार सभी को शिक्षा के अवसर मुहैया करवाये और सभी वर्गों की बराबरी का रास्ता खोला जबकि कुछ इतिहासकार मानते हैं कि यह भारतीयों को मानसिक रूप से गुलाम बनाने के लिए लागू की गई थी।

इतिहास में इतिहासकार का दृष्टिकोण और उस दृष्टिकोण से तथ्यों की व्याख्या एक महत्वपूर्ण समस्या बन जाती है जो कि सभी इतिहासकारों को एक नतीजे पर नहीं पहुंचने देती। हालांकि इतिहास में भी इतिहासकार तथ्य इकट्ठे करते हैं और उनका विश्लेषण करते हुए नतीजों पर पहुंचते हैं। लेकिन जिन घटनाओं को किसी अन्य घटना के कारण के तौर पर देखा जाता है उन्हें भी इकहरे रूप से नहीं माना जा सकता। यानी किसी एक घटना का सिर्फ एक ही कारण है ऐसा नहीं माना जा सकता। अतः बहुत से अन्य कारणों का जिक्र करना इतिहासकार के लिए जरूरी होता है। अतः इतिहास के नतीजों के पक्ष में प्रस्तुत आधार प्राकृतिक विज्ञानों की भांति एक ही नहीं होते।

हम उपरोक्त चर्चा के आधार पर देख सकते हैं कि ज्ञान के इन क्षेत्रों में अध्ययनकर्ता कुछ तथ्य इकट्ठे करते हैं, उनमें पैटर्न देखते हैं, उनका विश्लेषण करते हैं और अन्त में किसी नतीजे पर पहुंचते हैं। सभी विज्ञान या सामाजिक विज्ञानों में किसी समस्या पर विचार करने के यही तरीके इस्तेमाल होते हैं। इन सभी में भी नतीजों पर पहुंचने में व्यक्तियों के विवेक का उपयोग होता है लेकिन साथ ही बाहर की दुनिया से प्राप्त तथ्य या आंकड़े तर्क का प्रमुख आधार होते हैं। लेकिन आगे हम जिन विषयों पर चर्चा करने जा रहे हैं, वहां इन तरीकों से नहीं बनती।

गणित में चिन्तन के तरीके ऊपरोक्त सभी क्षेत्रों से एकदम भिन्न होते हैं। गणित में कुछ मान्यताएं ऐसी होती हैं जिन्हें पहले से मान लिया जाता है और उनका समय और स्थान से किसी तरह का रिश्ता नहीं होता। मान लीजिए, हम यह तय कर लें कि 2 का क्या अर्थ है और 3 और 5 का क्या अर्थ है। साथ ही यदि हम जोड़ (+) और बराबर (=) के मायने तय कर लें तो 2+3 = 5 होगा। कहने का आशय है कि गणित में कुछ स्वयंसिद्ध मान्यताओं के आधार पर नतीजों तक पहुंचा जाता है। इसमें वास्तविक दुनिया के

बारे में किसी तरह के प्राक्कल्पना, प्रयोग, अवलोकन आदि के आवश्यकता नहीं होती। गणित में जिन स्वयंसिद्ध मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाता है, उनके आपसी संबंध के आधार पर नतीजे निकाले जाते हैं और गणितीय नतीजों पर पहुंचने का समस्त कारोबार तर्कबुद्धि पर निर्भर करता है। गणितीय नतीजे भी समय के साथ बदलते नहीं हैं और उनमें निश्चितता होती है। यदि 2+3 =5 होते हैं तो फिर ये किसी भी परिस्थिति में 6 अथवा 7 नहीं हो सकते।

अभी तक हमने अन्य ज्ञान के क्षेत्रों में चिन्तन के तरीके और नतीजों पर पहुंचने की बात की है। इन सभी में हम यह देख सकते हैं कि प्रत्येक अनुशासन में नतीजे तक पहुंचने के लिए एक विधि होती है और अपने नतीजे के पक्ष में कुछ आधार होते हैं। इसे दूसरे तरीके से कहें तो कहा जा सकता है कि कुछ आधारों के माध्यम से किसी नतीजे पर पहुंचा जाता है। अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि दर्शन में सोचने के क्या तरीके होते हैं और दर्शन में किस तरह नतीजों तक पहुंचता है ?

चिन्तन के दार्शनिक तरीके

दर्शन में चिन्तन के तरीके ऊपरोक्त तरीकों से एक मायने में भिन्न होते हैं। दर्शन की विषयवस्तु ही इस तरह की है कि न तो इसमें प्रयोग किए जा सकते हैं और न ही आंकड़े इकटठे किए जा सकते हैं और न ही दर्शन में गणित की भांति पहले से सर्वसम्मति से मान्य किसी तरह की स्वयंसिद्ध मान्यताएं होती हैं। अब सवाल है कि फिर दर्शन के चिन्तन के तरीके क्या हैं ?

दर्शन में चिन्तन के तरीके और नतीजों पर पहुंचने की प्रक्रिया को समझने के लिए हम थोड़ा अतीत में झांकने की कोशिश करेंगे। प्राचीन काल से दार्शनिक विभिन्न मुद्दों पर विचार करते आए हैं। आप सभी को याद होगा, हमने पिछले वर्ष की पाठ्यसामग्री में प्लेटो और देकार्त का संक्षेप में अध्ययन किया है। इन दोनों ही दार्शनिकों ने चिन्तन की खास विधियों का इस्तेमाल किया है और इनका असर दर्शन में चिन्तन की परंपरा पर रहा है। इनके अलावा भी दर्शन में और विधियों का इस्तेमाल होता रहा है लेकिन दर्शन में चिन्तन करने के तरीकों का संक्षेप में जायजा लेने के लिए अभी हम इस अध्याय में इन दोनों दार्शनिकों की चिन्तन विधि पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

प्लेटो ने अपने दार्शनिक चिन्तन और साहित्य में अपने गुरु सुकरात की चिन्तन विधि का इस्तेमाल किया है। अतः इसे चिन्तन की सुकरातीय विधि अथवा संवादात्मक विधि भी कह सकते हैं। ऐसा माना जाता है कि सुकरात एक फक्कड़ किस्म के दार्शनिक थे और वे तमाम दार्शनिक मुद्दों पर अपने समकालीन विचारकों और कानूनवेत्ताओं के साथ विचार–विमर्श किया करते थे। इस विचार–विमर्श में सुकरात तर्क का इस्तेमाल करते हुए दूसरे व्यक्तियों के मतों में असंगति को उजागर करते थे।

सुकरात की चिन्तन विधि को समझने के लिए प्लेटो की एक रचना यूथिफ्रो का एक अंश दिया जा रहा है। प्लेटो ने अपने दार्शनिक साहित्य में सुकरातीय विधि पर आधारित ऐसे अनेक संवाद लिखे हैं। प्लेटो की एक रचना 'यूथिफ्रो' से चुना गया यह अंश संक्षिप्त होने की वजह से लिया गया है और इसका एकमात्र उद्देश्य दर्शन की इस चिन्तन विधि को समझने के लिए किया जा रहा है।

प्लेटो ने बहुत से दार्शनिक विषयों पर चर्चा करने के लिए अनेक वार्तालाप गढ़े हैं। इस वार्तालाप की पृष्ठभूमि यह है कि यूथिफ्रो नामक एक व्यक्ति अदालत में अपने पिता के खिलाफ हत्या का एक मुकदमा दायर करता है। उसके पिता पर एक दास की हत्या का आरोप है। बहुत से लोगों ने यूथिफ्रो द्वारा अपने पिता के खिलाफ दायर मुकदमे की आलोचना यह कहते हुए की कि यह अपवित्र कर्म है। अदालत में

यूथिफ्रो को सुकरात मिलते हैं और सुकरात को यूथिफ्रो बताता है कि वह अदालत में क्यों है। दोनों के बीच इस विषय पर चर्चा होने लगती है। यूथिफ्रो अपने पक्ष में यह दलील देता है कि किसी के द्वारा किया गया अपराध क्षम्य नहीं है, चाहे वह किसी का पिता या मां हो। क्योंकि यह दैवीय आदेश है। ज़्यूस नामक देवता ने अपने पिता के खिलाफ मुकदमा दायर किया था। अतः उसके द्वारा (यूथिफ्रो के द्वारा) अपने पिता के खिलाफ मुकदमा दायर करना गलत नहीं है। सुकरात को दैवीय आदेश का सिद्धान्त कुछ जंचता नहीं है। अतः सुकरात यूथिफ्रो से पूछते हैं कि पवित्र क्या है और अपवित्र क्या है ? सुकरात यह जानने का प्रयास करते हैं कि वे मानदण्ड क्या हैं जिनसे किसी भी व्यवहार अथवा वस्तु का पवित्र होना तय होता है अथवा अपवित्र होना तय होता है। इस संवाद के अन्त में हम देखते हैं कि, सुकरात यूथिफ्रो के द्वारा प्रयुक्त तर्कों का अन्तर्विरोध प्रकट करते हुए बताते हैं कि वे जो कह रहे हैं, वह एक साथ सही नहीं हो सकता।

सुकरात–यूथिफ्रो संवाद

सुकरात : तब मुझे यह बताओ कि पवित्रता और अपवित्रता क्या चीज है ?

यूथिफ्रो : ठीक है, मेरा कहना है कि मैं अभी जो कर रहा हूं वही पवित्रता है। अभी मैं एक अपराधी से हत्या अथवा नापाक चोरी या ऐसी ही किसी बात के लिए पूछताछ कर रहा हूं, बिना इस बात की परवाह किए कि वह व्यक्ति किसी का पिता, मां या कोई और है, जबकि पूछताछ न करना अपवित्रता है। ध्यान दो सुकरात, मैं तुम्हें दैवी कानून का स्पष्ट प्रमाण दूंगा– कानून यह है कि किसी भी भ्रष्टाचार के अपराधी को क्षमा नहीं करना चाहिए, चाहे वह कोई भी क्यों न हो। मैं दूसरों को यह दर्शाने के लिए इसका उपयोग पहले कर चुका हूं कि आगे बढ़ने का सही रास्ता यही होगा। देखो, लोगों ने इसे अपनाया ही नहीं बल्कि स्वीकार भी किया है कि ज़्यूस देवों में सबसे अच्छा और न्यायी है और उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उसने अपने ही पिता को गिरफ्तार कर लिया था क्योंकि उसने अन्यायपूर्ण तरीके से अपने बेटों को लील लिया था लेकिन मेरे संदर्भ में मेरे पिता से उनके अपराध के बारे में पूछताछ करने के कारण वे मुझसे नाराज हैं इस तरह वे दैवी आचरण व मेरे आचरण के बारे में अन्तर्विरोधी बातें कर रहे हैं।

सुकरात : यूथिफ्रो यह इस कारण हो सकता है क्योंकि मैं एक मुकदमे में बचाव कर रहा हूं कि, जब भी कोई दैवों के बारे में इस तरह बोलता है तो मुझे उसे स्वीकार करने में मुश्किल होती है। यह किसी भी व्यक्ति के लिए दावा करने का एक जायज कारण होगा कि मैं गलत हूं। तो, अब तुम भी उनकी बातें करते हो जो ऐसी चीजों को समझते हैं, तब हम बाकी लोगों को भी वह मानना होगा। अब इससे ज्यादा हम और क्या कहें, जब हम खुद यह स्वीकार कर रहे हैं कि हम उनके बारे में कुछ नहीं जानते ? लेकिन एक भले मानुस की तरह तुम मुझे यह बताओ कि क्या तुम्हें यकीन है कि चीजें इसी तरह हुई थीं ?

यूथिफ्रो : ये तथा कुछ और भी आश्चर्यजनक चीजें सुकरात, जिनके बारे में आम लोग जानते ही नहीं हैं।

सुकरात : तो क्या तुम यह सोचते हो कि देवताओं के बीच हकीकत में कोई गृह युद्ध हो रहा है एवं कोई भयावह झगड़े व लड़ाइयां और ऐसा कुछ– जिन्हें केवल एक्रोपोलिस के लिए सजाए–संवारे गए तथा उस तरह अलंकारों में लिपटे महान पैनाथेनिया के सभा वस्त्रों पर ही नहीं बनाया गया है बल्कि जैसी चीजों का वर्णन पवित्र ग्रन्थों में कवियों द्वारा किया गया है और जिन्हें कलाकारों द्वारा दर्शाया गया है ? क्या हमें यह कहना होगा यूथिफ्रो कि यह सब सच है ?

यूथिफ्रो : केवल यही नहीं सुकरात, बल्कि (जैसा कि मैंने अभी–अभी कहा था) अगर तुम सुनना पसंद करो तो मैं तुम्हें दैवी शक्तियों के बारे में बहुत कुछ बताऊंगा और यह सब सुनकर तुम चकित रह जाओगे।

सुकरात : मैं चकित नहीं होऊंगा। लेकिन तुम मुझे यह किसी और समय बताना जब हम फुर्सत में हों। अभी तो तुम मैंने जो कुछ पूछा उसका जवाब ठीक से देने की कोशिश करो। तुम्हें पता है पहले जब मैंने तुमसे यह पूछा था कि पवित्रता क्या है तो तुमने उसकी ठीक से व्याख्या नहीं की थी, बल्कि तुमने यह कहा था कि तुम अभी जो अपने पिता पर उनकी भ्रष्टता के लिए अभियोग लगा रहे हो, यही पवित्रता है।

यूथिफ्रो : हां सुकरात, मैं तुमसे सच कह रहा था।

सुकरात : संभवतया। लेकिन यूथिफ्रो तुमने यह भी कहा था कि दूसरी और बहुत–सी अन्य वस्तुएं भी हैं जो पवित्र हैं।

यूथिफ्रो : हां, तो वे हैं।

सुकरात : तब क्या तुम्हें याद है कि यह सब वह नहीं था जो मैं तुमसे जानना चाहता था– पवित्र चीजों के समूह में से एक या दो उदाहरण दे देना ? मैंने तुमसे उस खास गुण के बारे में जानना चाहा था जिसके आधार पर कोई पवित्र वस्तु पवित्र कहलाती है और इसके लिए तुम वचनबद्ध हो कि वह कोई एक ही मानक गुण होगा जिसके आधार पर अपवित्र वस्तुएं अपवित्र होती हैं और पवित्र वस्तुएं पवित्र या फिर यह सब तुम्हें याद नहीं है ?

यूथिफ्रो : हां मुझे याद है।

सुकरात : तब तुम मुझे यह समझाओ कि वह मानक क्या है, ताकि जब मैं इसे तुलना के एक उपकरण के तौर पर इस्तेमाल करूं तो यह पहचान सकूं कि जो कर्म– चाहे तुम्हारे या किसी और के– इसके अनुरूप हैं वे पवित्र हैं और जो अनुरूप नहीं हैं वे पवित्र नहीं हैं।

यूथिफ्रो : ठीक, तुम अगर यही चाहते हो तो मैं तुम्हें यही बताऊंगा सुकरात।

सुकरात : दरअसल मैं यही तो चाहता हूं।

(यूथिफ्रो पवित्रता की सर्वमान्य परिभाषा देता है जो शैली के तौर पर सुकरात को संतुष्ट करती है लेकिन विषयवस्तु के तौर पर नहीं करती। पवित्रता को देवसम्मत मानना उन लोगों के लिए मुश्किल है जो उन परंपरागत कथाओं में यकीन करते हैं जिनमें देवताओं में आपसी झगड़े होते हैं। एक ही तरह का काम किसी एक देवता को खुश और दूसरे का नाराज करेगा। यूथिफ्रो कहते हैं कि पवित्र वही है जिसे सभी देवता मान्यता देते हैं।)

यूथिफ्रो : तब ठीक है : जो देवसम्मत हो वह पवित्र है और जो देवसम्मत न हो वह अपवित्र।

सुकरात : बहुत बढ़िया यूथिफ्रो, अब तुमने उस रूप में उत्तर दिया है जिस रूप में मैं चाह रहा था। पर सच में अब भी मैं यह नहीं जानता कि तुम सही हो या नहीं, लेकिन निश्चय ही तुमने जो भी कहा है उसके सच को दर्शाने के लिए तुम और आगे बताओगे।

यूथिफ्रो : निश्चित ही।

सुकरात : ठीक है तो फिर हम अपने सिद्धान्त को परखते हैं : कोई भी कर्म या व्यक्ति, अगर वह दैवी रूप से मान्य है तो पवित्र है और अगर दैवी रूप से अमान्य है तो अपवित्र है, और ये बिल्कुल भी एक जैसे नहीं हैं बल्कि एक–दूसरे के ठीक विपरीत हैं, पवित्र और अपवित्र, ऐसा ही है ?

यूथिफ्रो : बिल्कुल सही कहा।

सुकरात : और यह ठीक से कहा हुआ लगता है क्या ?

यूथिफ्रो : मुझे तो ऐसा ही लगता है सुकरात।

सुकरात : यूथिफ्रो क्या हमने यह भी नहीं कहा था कि देवता झगड़ते रहते हैं और एक–दूसरे से मतभेद रखते हैं और उनके बीच एक–दूसरे से दुश्मनी है ?

यूथिफ्रो : कहा तो था।

सुकरात : और कृपया बताएं कि उन मतभेदों के विषय क्या हैं जिनके कारण दुश्मनी और रोष पनपता है ? हम इसे इस तरह देखने का प्रयास करते हैं। मान लो, मेरे और तुम्हारे बीच इस बात पर मतभेद है कि दो संख्याओं में से कौनसी संख्या बड़ी है, क्या यह मतभेद हम दोनों को एक–दूसरे के दुश्मन में बदल देगा और एक–दूसरे के प्रति रोष पैदा करेगा ? या फिर हम जल्दी से अंक गणित की मदद से इसे सुलझा लेंगे।

यूथिफ्रो : निश्चय ही हम गणित की मदद लेंगे।

सुकरात : और निश्चित ही इसी तरह अगर हमारे बीच दो वस्तुओं के आकार को लेकर मतभेद है तो हम पैमाने की मदद से इसे जल्दी सुलझा लेंगे ?

यूथिफ्रो : बिल्कुल।

सुकरात : और मैं कल्पना कर सकता हूं कि वजन के मामले को सुलझाने के लिए तुला उपयोगी होगी?

यूथिफ्रो : निश्चित ही।

सुकरात : तो फिर वह क्या है जिस पर हमारे मतभेद हो सकते हैं और हम उनका हल नहीं ढूंढ़ पाएं ? हम किस बात पर एक–दूसरे के दुश्मन हो जाएंगे और एक–दूसरे पर रोष प्रकट करेंगे ? शायद तुम्हारे पास कोई तैयार जवाब न हो लेकिन मैं एक सुझाव दूंगा– विचार करो कि यह न्याय और अन्याय है या सुन्दर और असुन्दर या अच्छे और बुरे के संबंध में हैं। क्या ये ही वे बातें नहीं हैं जिन पर हम झगड़ते हैं और किसी उचित समाधान पर नहीं पहुंच पाते और वे हमें एक–दूसरे का दुश्मन बना देती हैं– तुम्हें मुझे या किसी भी और को ?

यूथिफ्रो : हां, इसी प्रकार के मतभेद होते हैं सुकरात। यही मुद्दे होते हैं।

सुकरात : देवताओं के बारे में क्या होता होगा यूथिफ्रो ? अगर वे असहमत होते हैं तो क्या वे भी इन्हीं कारणों से असहमत नहीं होते होंगे ?

यूथिफ्रो : निश्चित ही ऐसा होता होगा।

सुकरात : मेरे दोस्त, तुम्हारा उत्तर यह सुझाता है कि देवताओं के बीच भी ऐसे ही होता होगा, अलग–अलग दल अलग–अलग तरह की बातें सोचते हैं– सुन्दर और असुन्दर या अच्छा और बुरा– स्पष्ट है कि वे एक–दूसरे से तब तक नहीं झगड़ रहे होंगे जब तक कि उनके बीच इसे लेकर कोई मतभेद न हो। ठीक ?

यूथिफ्रो : बिल्कुल ठीक।

सुकरात : निश्चित ही जिन विषयों को कोई दल न्यायपूर्ण व अच्छे के रूप में सम्मान व मान्यता देते हैं वे विपरीत तरह की विषयों को अमान्य करार देंगे।

यूथिफ्रो : बिल्कुल।

सुकरात : लेकिन तुम्हारे ही दावे के अनुसार एक ही तरह की चीजें किसी को न्यायपूर्ण लगती हैं तो दूसरों को अन्यायपूर्ण– और वे ही एक–दूसरे से उन मतभेदों का कारण बनती हैं जिनके लिए वे झगड़ते हैं और युद्ध करते हैं। यह ठीक है ?

यूथिफ्रो : बिल्कुल।

सुकरात : तब एक ही तरह की बातों को कुछ देवताओं द्वारा मान्यता भी दी जाती है और अमान्यता भी और इस तरह वे ही समान चीजें दैवी रूप से मान्य भी होती हैं और अमान्य भी।

यूथिफ्रो : उपयुक्त ही है।

सुकरात : तब इस उत्तर के हिसाब से तो एक ही चीज पवित्र भी होगी और अपवित्र भी।

(प्लेटो की पुस्तक 'द लास्ट डेज ऑफ सोक्रेटीज' से इस अंश का अंग्रेजी से अनुवाद प्रमोद पाठक ने किया है।)

जैसा कि हमने इस संवाद में देखा कि सुकरात पवित्रता और अपवित्रता क्या है, इस विषय पर यूथिफ्रो से चर्चा कर रहे हैं। इस चर्चा में सुकरात के यह पूछने पर कि पवित्रता क्या है और अपवित्रता क्या है, यूथिफ्रो पहले अपना मत कुछ इस प्रकार रखता है कि "वह जो कर रहा है वह पवित्र है, क्योंकि किसी भी अपराधी को उसके अपराध के लिए इसलिए क्षमा नहीं किया जा सकता चाहे वह किसी का पिता है अथवा मां है। यह देवताओं का आदेश है और ऐसा देवताओं ने भी किया है। अतः उसने अपने पिता के खिलाफ मुकदमा करके कोई अपवित्र काम नहीं किया है।" इसके बाद सुकरात प्रश्न करते हैं कि यदि देवताओं के विचारों में आपसी मतभेद पैदा हो तो क्या करेंगे ?

हमने उपरोक्त संवाद में देखा कि सुकरात एक तरह का विचार रखने के बाद उस पर प्रश्न करते हैं। जवाब आने पर सुकरात फिर से प्रश्न करते हैं। इस प्रकार सुकरात दार्शनिक मुद्दों पर विचार विमर्श करते हुए पहले तो दूसरों के मतों की मजबूती और उसके मत के पक्ष में आधारों को जानने का प्रयास करते हैं और उन्हें परखते हैं। सुकरात खासतौर से संवाद में शामिल दूसरे व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत मत को सुनते हैं लेकिन उन्हें अपनी समझ से लगता है कि इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके बाद सुकरात संवाद करने वाले व्यक्ति को किसी दावे या कुछ दावों पर सहमत करते हैं और अन्त में यह दर्शाते हैं कि उसके द्वारा आरंभ में किए दावे और बाद में जिन दावों पर उसने सहमति प्रकट की है, उनके

बीच में असंगति दिखाते हैं। यानी, पहले वाले दावे और बाद वाले दावों को एक साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता। सुकरात यह तरीका यह दर्शाने के लिए इस्तेमाल करते थे कि लोगों के विश्वासों और विश्वासों के समूह में असंगतता है और वे संवाद करने वाले व्यक्ति को उन्हें सही दिशा में सोचने के लिए तत्पर करते हुए नतीजे की तरफ बढ़ते थे। ऊपरोक्त संवाद में भी हम देख सकते हैं कि सुकरात संवाद करने वाले व्यक्ति को क्या सही है और क्या गलत है, इसे बताने के बजाय सोचने के लिए तैयार करते हैं। यह विचार करते हुए नतीजों तक पहुंचने का सुकरात का तरीका था। लेकिन हमने यह भी देखा कि प्रश्नों के माध्यम से सुकरात तर्क का इस्तेमाल करते हुए अपने पक्ष में युक्ति अथवा दलील पेश करते हैं। इस अध्याय के अगले हिस्से में हम युक्ति अथवा दलील पर और विस्तार से चर्चा करेंगे।

सुकरात और प्लेटो ने दर्शन में चिन्तन की इस विधि का इस्तेमाल किया। लेकिन दर्शन के इतिहास में बहुत से दार्शनिक अलग–अलग तरीके इस्तेमाल करते रहे हैं। दूसरा उदाहरण हम देकार्त का ले सकते हैं। हमने पिछले वर्ष की पाठ्यसामग्री में देकार्त के बारे में भी संक्षेप में पढ़ा है। वहां हमने देकार्त की संदेह विधि के बारे में चर्चा की है। देकार्त सुनिश्चित ज्ञान तक पहुंचने के लिए संदेह विधि का इस्तेमाल करते हैं। देकार्त इस संदेह की विधि का प्रयोग रोजमर्रा के जीवन में निश्चित तौर पर मान्य प्रत्येक चीज पर संदेह करते हैं और किसी ऐसे आधार की खोज करते हैं जिस पर संदेह न किया जा सके। संदेह करते–करते वे ''मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं'' तक पहुंचते हैं। देकार्त मानते हैं कि 'मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं' पर संदेह नहीं किया जा सकता और वे इस निश्चित ज्ञान के आधार पर अन्य ज्ञान तक पहुंचते हैं। देकार्त संदेह से निश्चित ज्ञान पर पहुंचते हैं और फिर उससे अन्य वस्तुओं के बारे में होने वाले ज्ञान को निगमित करते हैं।

इनके अलावा भी बहुत से दार्शनिकों ने सोचने के अन्य तरीके प्रस्तावित किए हैं। प्लेटो और देकार्त के अलावा हम दार्शनिक चिन्तन के कुछ और तरीकों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

एक अन्य विधि विश्लेषण अथवा भाषा के विश्लेषण की रही है जिसमें दार्शनिक विचार–विमर्श में आने वाले शब्दों (आम बोलचाल में प्रचलित शब्द अथवा दर्शन में प्रयुक्त होने वाले शब्दों) के अर्थ की छानबीन करते हैं और उन शब्दों अथवा अवधारणाओं का अन्य अवधारणाओं के साथ संबंध देखने का प्रयास करते हैं और इसके माध्यम से वे किसी नतीजे तक पहुंचते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई यह दावा करे कि, ''ईश्वर सर्वज्ञाता और सर्वशक्तिमान है'' तो भाषा का विश्लेषण करते हुए किन्हीं नतीजों पर पहुंचने वाले दार्शनिक इस पर चर्चा करते हुए सबसे पहले पूछेंगे कि पहले यह बताओ कि 'सर्वज्ञाता' और 'सर्वशक्तिमान' का क्या अर्थ है ? सर्वज्ञाता का अर्थ यदि 'सब जानने वाला' और सर्वशक्तिमान का अर्थ 'सबसे ज्यादा ताकतवर' है तो फिर उनका अगला सवाल होगा कि, 'यदि ईश्वर सर्वज्ञाता है तो उसे दुनिया में जो कुछ भी हो रहा है, इसका भी ज्ञान होगा। इसका मतलब है कि जो कुछ भी अच्छा–बुरा इस दुनिया में हो रहा है, उसे इस सब की जानकारी होगी।' उनका अगला सवाल होगा कि यदि सर्वशक्तिमान का अर्थ सब कुछ कर सकने की क्षमता रखने वाला है तो इसका मतलब है कि वह बिना किसी की मदद के स्वयं सब कुछ कर सकने में सक्षम होगा। इसका एक मतलब है कि वह इस दुनिया से बुराई को भी दूर कर सकता है। फिर इस दुनिया में बुराई क्यों है ? इस तरह के सवाल उठाते हुए वे इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि या तो ईश्वर को पता नहीं है कि कहां क्या हो रहा है अर्थात् वह सर्वज्ञाता नहीं है या फिर वह बुराई को दूर नहीं कर सकता यानी कि वह सर्वशक्तिमान नहीं है। इस विधि से दार्शनिक शब्दों अथवा अवधारणाओं के अर्थ और अवधारणाओं के आपसी संबंध के जरिए किन्हीं निष्कर्षों पर पहुंचते हैं।

दार्शनिक एक और तरीका इस्तेमाल करते हैं जिसे विपरीत उदाहरण खोजने का तरीका कहा जा सकता है। इसका मतलब है कि, मान लीजिए, किसी ने किसी तरह का दावा किया है, तो उस दावे की सत्यता जांचने के लिए उस दावे को गलत सिद्ध करने वाला उदाहरण खोजना। ऐसा उदाहरण खोजना जो कि किए दावे से विपरीत हो। उदाहरण के लिए, कोई कहे कि 'सभी कौवे काले होते हैं'। यह कौवों के बारे में किया गया एक प्रकार का सामान्यीकृत दावा है जो कि सभी कौंवों के बारे में है। इस दावे का अर्थ है कि कोई भी कौंआ ऐसा नहीं है जो काला नहीं है। अतः विपरीत उदाहरण के माध्यम से दार्शनिक यह खोजने की कोशिश करेगा कि क्या कोई ऐसा कौआ है जो काला नहीं है। यदि उसे ऐसा कोई उदाहरण मिल जाए जिसमें कोई कौआ काला नहीं हो तो वह कहेगा कि यह दावा सही नहीं है। अतः दर्शन में ऐसे उदाहरण खोजने का तरीका भी होता है जिससे कि किए गए दावे कि सत्यता जांची जा सके। यदि विपरीत उदारहण मिल जाएगा तो वह दावा खारिज हो जाएगा।

हमने ऊपर अन्य ज्ञान के क्षेत्रों में चिन्तन के तरीकों और नतीजों पर पहुंचने के लिए कुछ विधियों पर संक्षेप में चर्चा की है। हमने ऊपर कहा है कि ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में हम किन्हीं आधारों से किसी नतीजे पर पहुंचते हैं। किन्हीं आधारों से किसी नतीजे पर पहुंचने को युक्ति कहते हैं। युक्ति और तर्क का प्रयोग सिर्फ दर्शन में ही नहीं होता बल्कि ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में होता है। लेकिन इसके प्रकार अलग–अलग होते हैं। इसके दो स्वरूप हैं–आगमन अथवा निगमन विधि के रूप में होता है। आगमन और निगमन विधि पर हम इस अध्याय में आगे चर्चा करेंगे।

हमने ऊपर देखा है कि ज्ञान के सभी क्षेत्रों में किसी नतीजे पर पहुंचने के अपने तरीके होते हैं। यदि उस नतीजे के पक्ष में आधार पूछे जाएं तो सभी कुछ न कुछ आधार बताएंगे। इसका एक मतलब है कि युक्ति का प्रयोग ज्ञान के हरेक क्षेत्र में किया जाता है। दर्शन में युक्ति का प्रयोग किया जाता है। दार्शनिक अपना विचार या मत रखने के लिए अथवा दूसरे के मत को खारिज करने के लिए युक्ति अथवा दलील का इस्तेमाल करते हैं। दार्शनिकों के लिए युक्ति एक महत्वपूर्ण उपकरण है जिसे वे अपने मत के पक्ष में अथवा दूसरे के मत को खारिज करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। हालांकि युक्ति के बारे में, युक्ति के प्रकार और युक्ति की वैधता या अवैधता को जांचने के नियम और सिद्धान्तों पर, दर्शन की एक शाखा, तर्कशास्त्र, में विचार किया जाता है। अब हम समझने की कोशिश करेंगे कि यह युक्ति अथवा दलील होती क्या है ? युक्ति कैसे बनती है ? क्या किसी युक्ति से निकलने वाले नतीजे सदा सत्य होते हैं ?

युक्ति अथवा दलील

हम अक्सर अपनी आपसी बातचीत में युक्ति अथवा दलील[1] का प्रयोग करते हैं। किसी के कुछ कहने पर हम अक्सर कहते हैं कि तुम्हारी यह दलील तो ठीक नहीं है अथवा अनेक बार यह भी कहते हैं कि अपनी बात के पक्ष में तर्क दो अथवा अनेक बार कहते हैं कि अपनी बात के लिए तुमने पर्याप्त आधार नहीं दिए हैं। इस तरह की बातचीत में यह पूछने का एक मतलब है कि जो कहा जा रहा है, वह पर्याप्त और संतोषजनक नहीं है और उससे कुछ अधिक बताए जाने की जरूरत है जिसके आधार पर किसी के

[1] दलील अथवा युक्ति के लिए अंग्रेजी में आर्ग्यूमेंट शब्द का प्रयोग होता है। आम बोलचाल में युक्ति का एक अर्थ तिकड़म भिड़ाना अथवा चाल होता है। दर्शन में इसका प्रयोग आम बोलचाल की भाषा से थोड़ा अलग होता है। दलील का अर्थ भी अपने पक्ष में विचार रखना है। लेकिन दर्शन में इनको खास अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। दर्शन में कुछ कथनों से, जिन्हें आधार वाक्य कहा जाता है, किसी निष्कर्ष अथवा नतीजे पर पहुंचने को युक्ति अथवा दलील कहा जाता है। हम इस अध्याय में युक्ति शब्द का प्रयोग करेंगे। यदि आप चाहें तो दलील अथवा आर्ग्यूमेंट शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

द्वारा कही बात की जांच की जा सके या देखा जा सके कि वह बात कितनी सही है। या जब हम कहते हैं कि तुम्हारी यह दलील ठीक नहीं है, इसका अर्थ है कि जिन आधारों या कथनों से निष्कर्ष निकाला जा रहा है, उसमें किसी तरह की समस्या महसूस हो रही है। अतः हम न सिर्फ अपनी बात के पक्ष में युक्ति गढ़ते हैं बल्कि हम दूसरों के द्वारा दी जा रही युक्तियों की परख भी करते हैं कि वे कितनी सही हैं।

किसी भी युक्ति में कुछ आधार वाक्यों से किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। लेकिन ये निष्कर्ष सही भी हो सकते हैं और गलत भी हो सकते हैं। युक्ति की संरचना और युक्ति को जांचने के नियम और सिद्धान्तों पर तर्कशास्त्र में चर्चा की जाती है। तर्कशास्त्र हमें बताता है कि कौनसी युक्ति नियमों के आधार पर सही है और कौनसी नहीं है। युक्ति क्या होती है इसे समझने के लिए कुछ उदाहरण लेते हैं।

इसके लिए हम आम जिन्दगी से कुछ उदाहरण ले सकते हैं। यदि आप लोगों की बातों को सुनें तो आजकल कम होती बारिश पर चर्चा करते हुए वे कुछ इस प्रकार की युक्ति देते हैं –

(अ) 1. पिछले सालों से बारिश लगातार कम होती जा रही है।
2. क्योंकि बारिश के लिए पेड़ होना जरूरी है।
3. और पेड़ों की लगातार कटाई हो रही है और जंगल खत्म होते जा रहे हैं।

कुछ लोग वर्तमान भारतीय समाज में गैर–बराबरी पर चर्चा करते हुए इस प्रकार युक्ति देते हैं –

(ब) 1. आजादी के बाद भी भारतीय समाज में गैर–बराबरी की खाई बढ़ती रही है।
2. क्योंकि आजादी के बाद सभी के लिए शिक्षा व्यवस्था मुहैया नहीं हुई।
3. जो लोग पहले शिक्षित थे उन्हें ही आगे बढ़ने के अवसर मिले।
4. रोजगार के लिए शिक्षा का न्यूनतम स्तर बढ़ता रहा है और कम शिक्षित लोगों को रोजगार नहीं मिल पाए हैं।
5. यदि सभी को शिक्षा और रोजगार के समुचित अवसर मिले होते तो इतनी गैर–बराबरी नहीं होती।

इसी तरह हम गणित में भी युक्ति का प्रयोग करते हैं। जैसे कि –

(स) 1. 25 अधिक है 20 से।
2. 20 अधिक है 15 से।
3. अतः 25 अधिक है 15 से।

या इस तरह की युक्ति भी काम में लाई जाती है –

(द) 1. हाथी घोड़े से भारी होता है।
2. घोड़ा कुत्ते से भारी होता है।
3. अतः हाथी कुत्ते से भारी होता है।

इस तरह की युक्ति का भी प्रयोग होता है।

(य) 1. सभी व्यक्ति मरणशील होते हैं।
2. मनोहर एक व्यक्ति है।
3. अतः मनोहर मरणशील है।

क्या इन युक्तिओं को ध्यान में रखते हुए हम बता सकते हैं कि इनमें से कौन से कथन निष्कर्ष के तौर पर दिए गए हैं और उस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए क्या आधार दिए गए हैं ?

नीचे दी गई तालिका में युक्तियों के क्रमांक दिए हैं और उनके बाद वाक्य के आगे भी अंक लिखे हैं। इन युक्तिओं में कौनसे कथन या वाक्य निष्कर्ष के तौर पर कहे दिए गए हैं और कौनसे ऐसे कथन हैं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है। आप चाहें तो उस युक्ति में वाक्य के आगे लिखे अंकों को इस तालिका में लिख सकते हैं। इस तालिका को ऊपर दी गई युक्तिओं के आधार भरें।

युक्ति क्रमांक	निष्कर्ष	आधार
अ		
ब		
स		
द		
य		

यदि हम उपरोक्त प्रत्येक युक्तिओं पर नजर डालें तो युक्ति के बारे में कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। एक, किसी भी युक्ति में एक से अधिक तर्कवाक्य हैं। दूसरे, कुछ आधार वाक्य होते हैं और तीसरे, एक निष्कर्ष होता है। किसी भी युक्ति के लिए यह अनिवार्य और महत्वपूर्ण घटक हैं। अब हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि तर्कवाक्य, आधार वाक्य और निष्कर्ष क्या होते हैं ?

तर्कवाक्य

हम अपनी बातचीत में बहुत से वाक्यों या कथनों का प्रयोग करते हैं और प्रत्येक युक्ति में तर्कवाक्य होते हैं। मान लीजिए, कोई कहे कि 'आज शाम को मैं दिल्ली जाउंगा' या 'ताजमहल सन् 1675 में बनकर तैयार हुआ था' या 'क्या आप मुझे महात्मा बुद्ध के जीवन के बारे में बता सकते हैं' या 'आपको अपने खान–पान और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए' या 'अहा ! मजा आ गया, क्या खाना था; आदि–आदि। भाषा के माध्यम से हम जो भी कहते हैं उसे आमतौर पर कथन या वाक्य कहा जाता है। हम अपनी बातचीत में अनेक तरह के वाक्यों का प्रयोग करते हैं। बहुत से कथनों के माध्यम से हम कोई सवाल करते हैं और किसी से कुछ जानना चाहते हैं। बहुत से कथनों के माध्यम से हम अनुनय–विनय कर रहे होते हैं। कुछ वाक्यों के जरिए हम आदेश दे रहे हो सकते हैं। बहुत से वाक्यों से हम अपनी राय व्यक्त कर रहे हो सकते हैं जैसे कि, 'मक्के की रोटी और सरसों को साग बहुत ही स्वादिष्ट होता है'। तर्कवाक्य के बारे में हमने पिछले वर्ष की अध्ययन सामग्री में पढ़ा है कि तर्कवाक्य वह होता है जिसमें किसी तरह का दावा किया जाता है और जो बताता है कि स्थिति, मामला या बात क्या (something is the case) है। अतः हरेक कथन तर्कवाक्य नहीं होता। जबकि हरेक तर्कवाक्य कथन होता है। जैसे कि, 'नीम की पत्ती हरी होती है', 'सूरज उग रहा है', 'आज तापमान 45 डिग्री सेल्सियस है' या 'दो और दो चार होते हैं' या 'भारत में व्यक्ति की औसत आयु 100 वर्ष होती है' या 'सभी पेड़–पौधे श्वसन करते हैं' या 'इस दुनिया में भूत होते हैं'; आदि–आदि। इन सभी तर्कवाक्यों में किसी न किसी बात का दावा किया गया है। अब क्योंकि दावा किया गया है, अतः या तो दावा सत्य होगा या असत्य होगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि तर्कवाक्य आदेश, निर्देश, प्रशंसा या अनुनय–विनय या प्रश्न से भिन्न होते हैं। जब हम किसी को किसी तरह का आदेश देते हैं तो उसके बारे में यह नहीं कह सकते कि वह सत्य है अथवा असत्य। जैसे, 'यह

किताब मुझे दो' या 'क्या आप छत्तीसगढ़ की राजधानी का नाम जानते हैं ?' या 'अरे, आप इतनी बात तो मान ही जाइये' या 'तुम बहुत अच्छे व्यक्ति हो'। इनमें से कोई भी कथन किसी तरह का दावा नहीं करता। अतः इनमें से हम किसी भी कथन को सत्य अथवा असत्य नहीं कह सकते। इसलिए ये तर्कवाक्य नहीं हैं। हमने पिछले वर्ष यह भी बात की है कि एक ही तर्कवाक्य को अलग–अलग भाषा में व्यक्त किया जा सकता है अथवा एक से अधिक वाक्य संरचनाओं में व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए,

बरसात हो रही है।	(हिन्दी)
इट इज रेनिंग।	(अंग्रेजी)
बारिश हो रही है।	(उर्दू)
बर्षा हेउछी।	(उडिया)

हम देख सकते हैं कि इन सभी की भाषा अलग–अलग होते हुए भी सभी का दावा एक ही है और सभी बारिश के होने का दावा कर रहे हैं।

तर्कवाक्य सरल भी हो सकते हैं और संयुक्त भी हो सकते हैं। सरल तर्कवाक्य वे होते हैं जिनमें सिर्फ एक दावा किया जाता है। ऐसे सरल तर्कवाक्यों के उदाहरण हैं, 'बाहर बारिश हो रही है' या 'यह पुस्तक काले रंग की है' या 'आज शाम को मैं एक फिल्म देखूंगा' आदि–आदि। इन सभी तर्कवाक्यों में सिर्फ एक–एक दावा ही किया गया है। इसी तरह संयुक्त तर्कवाक्य वे होते हैं जो दो या दो से अधिक तर्कवाक्यों को मिलने से बनते हैं। इस तरह के संयुक्त तर्कवाक्यों के कुछ उदाहरण हैं, 'बाहर बारिश हो रही है और तेज हवा चल रही है' अथवा 'यदि 30 जून तक बारिश पड़ गई तो किसान अपने खेतों की बुआई शुरू कर देंगे' अथवा 'आज शाम को या तो मैं नाटक देखने जाउंगा या फिल्म देखने जाउंगा'। हम उपरोक्त संयुक्त तर्कवाक्य में देख सकते हैं कि दो तर्कवाक्यों को कुछ संबंध सूचक चिन्हों से जोड़ा गया है। संबंध सूचक चिन्ह वे होते हैं जो दो या दो से अधिक तर्कवाक्यों को जोड़ने के काम आते हैं। यदि ऊपर वाले संयुक्त तर्कवाक्यों में देखें प्रयोग में लाए गए संबंध सूचक चिन्ह इस प्रकार हैं–'और', 'नहीं', 'या', 'यदि...तो' एवं 'यदि और केवल यदि' संबंध सूचक चिन्हों पर आगे चर्चा करेंगे। इस अध्याय में हम सिर्फ इन पांच संबंध सूचकों पर ही चर्चा करेंगे।

(1) संयोजक (Conjunction)

हम आम बोलचाल में अक्सर दो वाक्यों को जोड़ने के लिए 'और' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसे तर्कशास्त्र में संयोजक कहते हैं। 'मैं आज शाम के वक्त घूमने जाउंगा', यह एक सरल तर्कवाक्य है। लेकिन यदि उदाहरण के लिए, 'आज मैं शाम के समय घूमने जाउंगा और फिर अपने गणित के शिक्षक से गणित सीखने जाउंगा' या 'मैंने कल दिल्ली का लाल किला देखा और आज आगरा का ताजमहल देखा'। इन दो तर्कवाक्यों को 'और' से संयुक्त किया गया है। इसी तरह अनेक सरल वाक्यों के बीच 'और' लगाकर अनेक तर्कवाक्य जोड़े जा सकते हैं। यदि इस संयुक्त वाक्य को प्रतीकात्मक भाषा में लिखें तो इस प्रकार लिखा जाएगा–

आज शाम को मैं घूमने गया और फिर अपने शिक्षक से गणित पढ़ने गया।

यदि इस संयुक्त तर्कवाक्य में हम 'आज मैं घूमने जाउंगा' के लिए प्रतीक **'अ'** का प्रयोग करें एवं 'फिर शिक्षक से गणित सीखने जाउंगा' के लिए प्रतीक **'ब'** का प्रयोग करें तथा 'और' के लिए **'•'** का प्रतीक इस्तेमाल करें तो प्रतीकात्मक भाषा में इसे इस प्रकार लिखा जाएगा :

अ • ब

हमने ऊपर चर्चा की है कि तर्कवाक्य के लिए सत्य या असत्य होना आवश्यक है। यह संयुक्त तर्कवाक्य है, अतः यह भी सत्य या असत्य होगा। फिर इसकी सत्यता का निर्धारण किस प्रकार होगा ? मान लीजिए, आपसे कोई कहे, 'आज मैंने सुबह कुल्फी खाई और फिर शरबत पीया'। आप इस तर्कवाक्य को कब सत्य मानेंगे ? मान लीजिए, मैंने आज सुबह सिर्फ कुल्फी ही खाई, तथा शरबत नहीं पीया तो क्या यह तर्कवाक्य सत्य होगा ? अर्थात् किए गए दावों में से सिर्फ एक ही काम किया गया हो, तो क्या यह तर्कवाक्य सत्य होगा ? निश्चित ही जब ऐसा कहने वाले ने सुबह कुल्फी खाई हो और फिर शरबत पीया हो तभी यह सत्य होगा। लेकिन यदि कहने वाले ने सुबह कुल्फी तो खाई हो लेकिन शरबत नहीं पीया हो तो यह असत्य हो जाएगा। ऐसा भी हो सकता है कि सुबह कुल्फी नहीं खाई हो लेकिन बाद में शरबत पी लिया हो, इस परिस्थिति में भी यह तर्कवाक्य असत्य होगा। 'और' संबंध सूचक चिन्ह से जुड़कर बनने वाले तर्कवाक्य के सत्य होने के लिए यह जरूरी है कि उसके दोनों अथवा जितने भी अंश उस वाक्य में हों वे सत्य होने चाहिएं। तभी वह सत्य होगा। इस शर्त को पूरा नहीं करने पर वह वाक्य असत्य हो जाएगा। यदि कोई भी एक अंश असत्य है तो वह संपूर्ण वाक्य असत्य माना जाएगा। इसे एक और उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं। मान लीजिए, मैं कहूं कि, 'आज सुबह मैं गणित के शिक्षक के घर गया और दोपहर को विज्ञान के शिक्षक के घर गया'। इस तर्कवाक्य के सत्य होने के लिए जरूरी है कि इसके दोनों अंश 'आज सुबह मैं गणित के शिक्षक के घर गया' एवं 'दोपहर को विज्ञान के शिक्षक के घर गया', सत्य होने चाहिएं। यानी दोनों के यहां जाने पर ही यह संयुक्त तर्कवाक्य सत्य होगा। यदि कोई भी एक अंश असत्य हुआ तो यह तर्कवाक्य असत्य हो जाएगा। मान लीजिए, आज सुबह मैं गणित के शिक्षक के घर तो गया लेकिन दोपहर को विज्ञान के शिक्षक के घर नहीं गया तो यह तर्कवाक्य असत्य हो जाएगा।

इस तरह इस संयोजक से मिलकर बनने वाले वाक्य और भी जटिल हो सकते हैं। उदारहण के लिए, 'राधा ने शाम को गाय का दूध निकाला और फिर राजकुमार के साथ बैठकर थोड़ी देर गणित पढ़ा और दोनों ने रात 9 बजे साथ खाना खाया और इसके बाद दोनों अपने कमरे में जाकर सो गए'। यदि इस वाक्य को प्रतीकात्मक भाषा में लिखना हो और यदि हम 'राधा ने शाम को गाय का दूध निकाला' के लिए **'अ'**, 'फिर राजकुमार के साथ गणित पढ़ा' के लिए **'ब'**, 'दोनों ने रात के 9 बजे साथ खाना खाया' के लिए **'स'** तथा 'इसके बाद दोनों अपने कमरे में जाकर सो गए' के लिए **'द'** का प्रयोग करें तो इस प्रकार लिखा जाएगा–

अ • ब • स • द

ऊपरोक्त प्रतीकात्मक तर्कवाक्य के आधार पर देखें तो यह वाक्य तभी सत्य होगा जब 'अ', 'ब', 'स' और 'द' सत्य हों। यदि किसी एक के असत्य होने पर पूरा तर्कवाक्य असत्य हो जाएगा।

(2) निषेध (Negation)

हम अनेक बार अपनी बातचीत में बहुत बार निधेष का इस्तेमाल करते हैं। हम आमतौर पर कहते हैं कि, 'मैं रायपुर नहीं जा रहा हूं'। यह वाक्य 'मैं रायपुर जा रहा हूं' का निषेध कर रहा है। यानी, इसका उल्टा है। तर्क करते हुए हम इस संबंध सूचक चिन्ह का भरपूर इस्तेमाल करते हैं। लेकिन इन वाक्यों का सत्य अथवा असत्य होना कैसे तय होता है ?

यदि 'मैं रायपुर जा रहा हूं' यह वाक्य सत्य है तो निश्चित रूप से 'मैं रायपुर नहीं जा रहा हूं', यह वाक्य असत्य होगा। अर्थात् सत्य का निषेध असत्य होता है। लेकिन यदि 'मैं रायपुर नहीं जा रहा हूं' यह वाक्य सत्य है तो 'मैं रायपुर जा रहा हूं' यह वाक्य असत्य होगा। अर्थात् असत्य का निषेध सत्य होता है। यदि इसे प्रतीकात्मक भाषा में लिखा जाए तो निषेध के लिए '–'का इस्तेमाल किया जाता है। यदि हम 'मैं रायपुर जा रहा हूं' के लिए '**क**' प्रतीक काम में लें तो 'मैं रायपुर नहीं जा रहा हूं' इसके लिए '**–क**' प्रतीक काम में आएगा। लेकिन कई बार हम अपनी बातचीत में दो बार निषेध का इस्तेमाल भी करते हैं। जैसे कि, 'किसी आतंकवादी को मारना अनुचित नहीं है'। इस वाक्य में हमने दो बार निषेध का प्रयोग किया है। एक बार में हमने उचित का निषेध करने के लिए अनुचित शब्द का प्रयोग किया है और दूसरे नहीं लगाकर निषेध किया है। इस वाक्य को सहज भी कहा जा सकता था जैसे कि 'किसी आतंकवादी का मारना उचित है', लेकिन इस सरल वाक्य का इस्तेमाल नहीं करके हमने दो बार निषेध का प्रयोग किया है। यदि हम 'किसी आतंकवादी को मारना उचित है' के लिए 'क' प्रतीक का इस्तेमाल करें तो इसे लिख सकते हैं 'क'। यदि हम 'किसी आतंकवादी को मारना अनुचित (उचित नहीं) है' के लिए '– क' का प्रयोग करेंगे। और यदि हम इसी तरह 'किसी आतंकवादी को मारना अनुचित नहीं है' को प्रतीकात्मक भाषा में व्यक्त करें तो '–(–क)' का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में निषेध के निषेध से वाक्य सत्य हो जाता है। तर्कशास्त्र में इसको व्यक्त करने का आसान तरीका है–

क
–क
–(–क)

इस तरह निषेध पर निषेध लगाये जा सकते हैं। लेकिन इन वाक्यों की सत्यता इस बात से तय होती है कि कोई दावा सत्य है तो उसका निषेध असत्य होगा। यदि निषेध सत्य है तो दो बार निषेध असत्य होगा।

(3) वियोजक

दूसरे तरह के संयुक्त तर्कवाक्य वैकल्पिक हो सकते हैं जिनकी भाषायी अभिव्यक्ति 'या' के संबंध सूचक चिन्ह से होती है। वैकल्पिक तर्कवाक्य का अर्थ है जिसमें दावे के तौर पर दो या दो से अधिक विकल्प दिए गए हों। हम आम बोलचाल में अनेक बार इस तरह बात करते हैं, जैसे कि, 'आज शाम को राधा फुटबाल खेलेगी या अपने मामा के साथ घूमने जाएगी' एवं 'आज दिन में बारिश होगी या तेज उमस रहेगी' अथवा 'सरकार उन लोगों को पेंशन मुहैया कराएगी जो वृद्ध हैं या लम्बी बीमारी से ग्रस्त हैं'। लेकिन यदि हम इस तरह के वैकल्पिक वाक्यों की सूची बनाएं तो हमें स्पष्ट होगा कि ये सिर्फ एक तरह के नहीं हैं। यह फर्क क्या है ? कम से कम क्या शर्त पूरी होने पर ये वाक्य सत्य होंगे अथवा इस तरह के तर्कवाक्य कब सत्य होंगे और कब असत्य होंगे ?

वैकल्पिक तर्कवाक्य के लिए यह आवश्यक है कि कोई भी एक दावा सत्य होने पर वह तर्कवाक्य सत्य माना जाएगा। ऊपरोक्त उदाहरणों को देखने से सहज ही पता चल रहा है कि इस तरह के वाक्यों में कम से कम एक ही दावे के सत्य होने की बात कही जा रही है। उदाहरण के लिए, 'मैं या तो आज शाम को दाल–रोटी या दलिया खाउंगा'। इस वाक्य में दोनों दावे में से करने के लिए सिर्फ एक ही दावा प्रस्तावित किया जा रहा है। अर्थात् यदि कोई एक दावा भी पूरा किया गया तो यह वाक्य सत्य होगा। अतः एक दावे के सत्य होने पर ही यह तर्कवाक्य सत्य माना जाएगा। दूसरी तरफ ऐसे वैकल्पिक वाक्य भी हो

सकते हैं जिनमें कम से कम एक दावा तो सत्य हो सकता है लेकिन दोनों भी सत्य हो सकते हैं। जैसे कि हमने ऊपर एक वाक्य कहा है कि, 'सरकार उन लोगों को पेंशन मुहैया कराएगी जो वृद्ध हैं या लम्बी बीमारी से ग्रस्त हैं'। इस वाक्य में कम से कम एक के सत्य होने पर भी यह सत्य होगा लेकिन दोनों के सत्य होने पर भी सत्य होगा।

यदि वैकल्पिक तर्कवाक्य को प्रतीकात्मक भाषा में लिखना हो और 'आज शाम को राधा फुटबाल खेलेगी' को **'क'** मानें तथा 'अपने मामा के साथ घूमने जाएगी' को **'ख'** मानें और विकल्प के लिए '**v**' का प्रतीक मानें तो इस प्रकार लिखा जाएगा –

क v ख

वैकल्पिक तर्कवाक्य भी और जटिल हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, 'आज सुबह राधा गणित पढ़ेगी या पास के शहर से सब्जी खरीदकर लाएगी या मां की मदद करने खेत में जाएगी या पानी भरने के काम में पापा की मदद करेगी'। यदि इस तर्कवाक्य को भी हम प्रतीकात्मक भाषा में लिखना चाहें तो 'आज सुबह राधा गणित पढ़ेगी' के लिए **'क'**, 'पास के शहर से सब्जी खरीदकर लाएगी' के लिए **'ख'**, 'मां की मदद करने खेत में जाएगी' के लिए **'ग'** और 'पानी भरने के काम में पापा की मदद करेगी' के लिए **'घ'** का इस्तेमाल करें तो इस वाक्य को इस प्रकार लिखा जाएगा–

क v ख v ग v घ

इस तर्कवाक्य को कम से कम एक अंश के सत्य पर सत्य माना जाएगा और सभी अंशों के असत्य होने पर असत्य माना जाएगा। ऊपरोक्त वाक्य चारों अंशों के असत्य होने पर ही असत्य होगा।

इसी तरह के मिश्रित तर्कवाक्य परिस्थितियों पर आधारित भी होते हैं। जैसे, यदि कल बारिश हुई तो बरसाती कीडों की भरमार भी होगी' या 'यदि आप मेरे साथ दिल्ली चलने को तैयार हैं तो मैं भी आप के साथ दिल्ली चलूंगा' या 'यदि आज गणित के शिक्षक नहीं आए तो मैं पुस्तकालय में बैठकर पढ़ूंगा'।

(4) सशर्त तर्कवाक्य

हम आपसी बातचीत में किसी परिस्थिति पर निर्भर तमाम वाक्य प्रयोग में लाते हैं। जैसा कि सशर्त शब्द से ही प्रतीत होता है कि इसमें किया गया दावे किसी शर्त के पूरे होने पर ही सत्य होंगे। इसे अंग्रेजी में 'कन्डीशनल स्टेटमेंट' अथवा 'हाइपोथेटिकल स्टेटमेंट' कहते हैं। अपनी बातचीत की भाषा में इसकी अभिव्यक्ति 'यदि ... तो' के तौर पर करते हैं या 'अगर ... तो' के तौर पर करते हैं। इसे कुछ उदाहरणों से समझने का प्रयास करते हैं।

1. यदि आज शाम को ममता मेरे घर आई तो हम नाटक देखने जाएंगे।
2. यदि मोहन ने खाना नहीं बनाया तो उसकी पत्नी को भूखा रहना पड़ेगा।
3. यदि स्कूलों में आरंभ से ही समुचित साहित्य पढ़ाया जाए तो बच्चों के सोचने–समझने की क्षमताएं ज्यादा बेहतर होंगी।

यदि हम ऊपरोक्त वाक्यों को देखें तो पता चलता है कि हरेक वाक्य में एक शर्त लगी हुई है। उदाहरण के लिए, पहले वाक्य में नाटक देखने जाने के लिए ममता के घर आने की शर्त है। इसका

मतलब है कि यदि ममता नहीं आई तो नाटक देखने नहीं जाएंगे और यदि ममता घर आई तो नाटक देखने जाएंगे। दूसरे और तीसरे वाक्य में भी इसी तरह की शर्त हैं।

सशर्त वाक्यों में जो शर्त है उसे पूर्ववर्ती कहा जाता है और जो परिणाम है उसे प्रतिपादक कहा जाता है। इसके लिए पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती भी प्रयोग में लाए जा सकते हैं। 'यदि' से आरंभ होने वाले अंश को पूर्ववर्ती कहा जाता है और 'तो' से आरंभ होने वाले का उत्तरवर्ती या परिणाम कहा जाता है। इस तरह के वाक्यों का मतलब होता है कि यदि पूर्ववर्ती मौजूद है तो उत्तरती भी मौजूद होगा। उदाहरण के लिए, 'यदि ममता मेरे घर आई तो हम नाटक देखने जाएंगे'। दूसरे शब्दों में, यदि उत्तरवर्ती मौजूद नहीं है तो पूर्ववर्ती भी मौजूद नहीं होगा। अर्थात् यदि हम नाटक नहीं देखने गए इसका मतलब होगा कि ममता मेरे घर नहीं आई। लेकिन इस तरह से प्रयुक्त होने वाले वाक्यों में भेद होता है जिसे हम निम्न उदाहरणों के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे–

1. यदि पानी को शून्य डिग्री सेल्सियस तापमान पर रखा जाएगा तो वह जम जाएगा।
2. यदि मनोहर कुआंरा है तो मनोहर अविवाहित है।
3. यदि सभी मनुष्य मरणशील हैं और मनोहर मनुष्य है तो मनोहर मरणशील है।
4. यदि तुमने आज मेरे साथ खाना नहीं खाया तो मैं भी कभी तुम्हारे साथ खाना नहीं खाउंगा।

यदि हम इन चारों वाक्यों पर नजर डालें तो इनमें फर्क नजर आएगा। पहला वाक्य कहता है कि यदि पानी को शून्य डिग्री सेल्सियस तापमान पर रखा जाएगा तो वह जम जाएगा। यानी, यहां पर दो चीजों के बीच एक अनिवार्य रिश्ता नजर आता है जिसे कार्य–कारण का रिश्ता भी कहते हैं। दूसरे वाक्य में हम देख सकते हैं कि यह परिभाषा का मामला है। यानी कुआंरे की परिभाषा में ही अविवाहित होना निहित है। तीसरे वाक्य में तार्किक रूप से एक नतीजा निकाला गया है। और चौथे में इस तरह की कोई भी शर्त नहीं है। अर्थात् न तो वहां कार्य–कारण संबंध है, न ही परिभाषा का मामला है और न ही तार्किक रूप से किसी नतीजे पर पहुंचा गया है।

लेकिन सशर्त वाक्य कब सत्य होंगे और कब असत्य होंगे ?

हमने देखा है कि डपरोक्त वाक्यों में शर्त पूरी हो रही है या पूर्ववर्ती सत्य है तो ये वाक्य सत्य होंगे। लेकिन यदि शर्त पूरी नहीं हो रही है तो ये वाक्य सत्य नहीं होंगे।

आधार वाक्य एवं निष्कर्ष

अभी तक हमने तर्कवाक्यों के कुछ प्रकारों और उनके सत्य–असत्य के बारे में जाना है। आगे हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि तर्कवाक्य और युक्ति का क्या संबंध है और युक्ति में किस तरह तर्कवाक्यों का इस्तेमाल किया जाता है। यदि हम युक्ति की चर्चा करें तो युक्ति के लिए दो चीजें अनिवार्य रूप से होनी चाहिएं। एक, आधार वाक्य और दूसरे, निष्कर्ष।

आधार वाक्य वह होता है जिनकी मदद से निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। किसी युक्ति में कम से कम एक आधार वाक्य अवश्य होना चाहिए और अधिक से अधिक कितने आधार वाक्य हो सकते हैं, इसकी सीमा तय नहीं है। यदि हम अपनी बातचीत को दर्ज करें या किसी किताब को पढ़ते हुए ध्यान दें तो अक्सर किसी युक्ति में बहुत से आधार वाक्य होते हैं। हालांकि ज्यादा आधार वाक्यों वाली युक्ति जटिल हो जाती है। लेकिन हम यहां सरल युक्तिओं को समझने का प्रयास करेंगे। ये आधार वाक्य तर्कवाक्य के रूप में ही

मौजूद होते हैं लेकिन आधार वाक्य और तर्कवाक्य में फर्क यह है कि कोई भी तर्कवाक्य अकेला हो सकता है। यानी, मैं कह सकता हूं कि, 'पेड़ पर बैठी कोयल कूक रही है'। यह तर्कवाक्य है लेकिन इसके आधार पर किसी तरह का निष्कर्ष नहीं निकाला जा रहा है। ऐसे अनेक तर्कवाक्य भी हो सकते हैं और जरूरी नहीं है कि उनके आधार पर निष्कर्ष निकाला जाए। लेकिन किन्हीं तर्कवाक्यों को आधार वाक्य तभी कहा जाता है जब उनके द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। हम उस तर्कवाक्य या तर्कवाक्यों के समूह को आधार वाक्य कहते हैं जिनसे किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। इसी तरह आधार वाक्यों से जिस नतीजे पर हम पहुंचते हैं उसे निष्कर्ष कहा जाता है। युक्ति होने के लिए निष्कर्ष का होना भी जरूरी है। अतः युक्ति कह लाने के लिए आधार वाक्य और निष्कर्ष दोनों ही अनिवार्य रूप से होने चाहिएं।

हम इस अध्याय में सरल युक्तिओं के माध्यम से इसे समझने का प्रयास करेंगे। नीचे एक युक्ति का उदाहरण दिया गया है –

आधार वाक्य 1. सभी व्यक्ति मरणशील होते हैं।
आधार वाक्य 2. मनोहर एक व्यक्ति है।
निष्कर्ष 3. अतः मनोहर मरणशील है।

हम उपरोक्त उदाहरण में देख सकते हैं आरंभ के दो वाक्य आधार वाक्य हैं और तीसरा निष्कर्ष। इस युक्ति में हमने आधार वाक्यों को आरंभ में निष्कर्ष को सबसे अंत में रखा है। हालांकि हमारी रोजमर्रा की बातचीत में अथवा किसी भी लेखन में युक्तियां इतनी व्यवस्थित तरीके से नहीं मिलतीं। ऐसा हो सकता है कि हम अपनी आपसी बातचीत में पहले निष्कर्ष को अभिव्यक्त करें और फिर आधार वाक्यों को बताएं। साथ ही आमतौर पर किसी भी युक्ति में सरल वाक्य कम ही होते हैं बल्कि वे संयुक्त वाक्य होते हैं। उदाहरण के लिए,

1. आजादी के बाद भी भारतीय समाज में गैर–बराबरी की खाई बढ़ती रही है।
2. क्योंकि आजादी के बाद सभी के लिए शिक्षा व्यवस्था मुहैया नहीं हुई।
3. जो लोग पहले शिक्षित थे उन्हें ही आगे बढ़ने के अवसर मिले।
4. रोजगार के लिए शिक्षा का न्यूनतम स्तर बढ़ता रहा है।
5. यदि सभी को शिक्षा और रोजगार के समुचित अवसर मिले होते तो इतनी गैर–बराबरी नहीं होती।

यदि हम उपरोक्त युक्ति को देखें तो इसमें निष्कर्ष को सबसे पहले रखा गया है और आधार वाक्य बाद में रखे गए हैं। सामान्यतया निष्कर्ष के पहले 'अतः', 'इसलिए', 'इससे सिद्ध होता है कि', 'परिणामतः', आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह आधार वाक्यों से पहले भी हम कुछ सूचक के तौर पर इस तरह के शब्दों का प्रयोग करते हैं जैसे, 'क्योंकि', 'यद्यपि' इत्यादि। लेकिन इस चर्चा में यह ध्यान रखने योग्य है कि हम आपसी बातचीत में जिस तरह से युक्ति का प्रयोग करते हैं और जब तर्कशास्त्र में औपचारिक तरीके से युक्ति को समझते हैं, उसमें थोड़ा फर्क होता है। आपसी बातचीत में हम अनेक बार निष्कर्ष को पहले रखते हैं। उसके बाद जिन आधार वाक्यों से हम निष्कर्ष पर पहुंचे होते हैं, उन्हें रखते हैं। अनेक बार हम आधार वाक्य स्पष्ट रूप से और पूरे तरीके से कहे भी नहीं गए होते हैं। ऐसे में आधार वाक्यों को स्पष्ट से सामने रखने और अनकहे आधार वाक्यों को अपनी तरफ से पूरी बातचीत के आधार पर गढ़ना भी होता है।

अभी तक की चर्चा के बाद यह कहा जा सकता है कि किसी भी युक्ति अथवा दलील में आधार वाक्य और निष्कर्ष अनिवार्यतः होते हैं। बेहतर युक्ति वही होती है जो सभी आधार वाक्यों को स्पष्ट रूप से सामने रखते हुए निष्कर्ष पर पहुंचे। लेकिन युक्ति में एक बात गौर करने की है कि आधार वाक्यों में और निष्कर्ष के बीच एक संबंध भी होता है। यदि आधार वाक्य कुछ कह रहे हों और निष्कर्ष कुछ कह रहा हो, यानी दोनों का आपस में कोई संबंध न हो तो वह दरअसल युक्ति ही नहीं होती। उदाहरण के लिए, यदि कोई इस प्रकार से अपनी बात को पेश करे –

1. आज आसमान में बादल छाये हैं।
2. बहुत से देशों में ठंड बहुत ज्यादा पड़ती है।
3. खाना खाने के बाद आलस आता है।
4. निद्रा सेहत के लिए बहुत जरूरी है।
5. अतः बारिश के लिए बादल होना जरूरी है।

आप समझ ही गए होंगे कि यह युक्ति ही नहीं है। क्योंकि इसमें जिस निष्कर्ष को प्रस्तुत किया गया है, उसका आधार वाक्यों से किसी तरह का संबंध नहीं है और आधार वाक्यों में भी आपस में किसी तरह का संबंध नहीं है। ऊपर कुछ वाक्यों को बस एक साथ रख दिया गया है। हालांकि हम यह भी देख सकते हैं कि ये सभी तर्क वाक्य हो सकते हैं और सभी अलग–अलग सत्य भी हो सकते हैं। फिर भी यह युक्ति नहीं बनती। क्योंकि किसी भी सही युक्ति में आधार वाक्यों के बीच भी संबंध होता है और आधार वाक्यों तथा निष्कर्ष के बीच भी संबंध होता है। लेकिन यह संबंध किस प्रकार का संबंध होता है, इसे समझने की आवश्यकता है। हम पुनः एक उदाहरण को देखते हैं–

1. सभी मनुष्य मरणशील हैं।
2. मनोहर एक मनुष्य है।
3. अतः मनोहर मरणशील है।

यह एक सरल युक्ति का उदाहरण है। इसमें हम देख सकते हैं कि आधार वाक्य 1 में सभी मनुष्यों के बारे में दावा किया गया है। फिर एक व्यक्ति के बारे में कहा गया है जो कि मनुष्य है और इसके बाद निष्कर्ष है। पहले आधार वाक्य में सभी मनुष्यों की मरणशीलता के बारे में कहा गया है। फिर एक व्यक्ति के मुनष्य होने का दावा किया गया है और इसके बाद पहले आधार वाक्य और दूसरे आधार वाक्य को मिलाकर तीसरी बात, निष्कर्ष, कहा गया है। आधार वाक्यों के मध्य और दोनों आधार वाक्य तथा निष्कर्ष के बीच भी एक स्पष्ट संबंध नजर आता है।

जिन युक्तिओं में यह संबंध होता है वे युक्तियां वैध होती हैं। हम युक्ति के लिए सत्य अथवा असत्य का प्रयोग नहीं करते। क्योंकि आप देख सकते हैं कि सत्य अथवा असत्य तो तर्कवाक्य होता है या तर्कवाक्य में किया गया दावा होता है। युक्ति को सत्य अथवा असत्य इसलिए नहीं कहते क्योंकि यहां तो एक से अधिक तर्कवाक्य हैं और निष्कर्ष भी है। हालांकि इस युक्ति में आधार वाक्य के तौर पर प्रयुक्त तर्कवाक्य सत्य अथवा असत्य हो सकते हैं।

तर्कशास्त्र में एक और बात है जिसे समझने की आवश्यकता है, वह यह कि, आधार वाक्यों के तौर पर प्रयुक्त तर्कवाक्य असत्य होते हुए भी युक्ति वैध हो सकती है। क्योंकि हमारी आपसी बातचीत में हम जिस तरह से युक्ति का प्रयोग करते हैं, उसमें हम तर्कवाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता का भी ध्यान रखते हैं। लेकिन तर्कशास्त्र में युक्ति के नियमों पर चर्चा की जाती है। यदि उन नियमों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा रहा है तो वह युक्ति वैध होगी। इसे एक उदाहरण से समझते हैं–

1. सभी गधों के दो पैर होते हैं।
2. मोहन एक गधा है।
3. अतः मोहन के दो पैर हैं।

उपरोक्त युक्ति में हम देख सकते हैं कि पहला आधार वाक्य असत्य है। दूसरा आधार वाक्य भी असत्य है लेकिन निष्कर्ष सत्य है। इसके बावजूद यह युक्ति वैध है। क्योंकि इस युक्ति के पहले आधार वाक्य में जो दावा किया गया है, दूसरी में उसी से संबंधित दावा किया गया है और निष्कर्ष भी इसी के आधार पर निकाला गया है। ऐसा भी हो सकता है कि कोई आधार वाक्य सत्य हो और निष्कर्ष असत्य हो, इसके बावजूद युक्ति वैध हो। उदाहरण के लिए,

1. सभी मनुष्य भोजन करते हैं।
2. पत्थर एक मनुष्य है।
3. अतः पत्थर भोजन करता है।

तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार यह युक्ति वैध है। जबकि इसका पहला आधार वाक्य सत्य है। दूसरा आधार वाक्य असत्य है और निष्कर्ष भी असत्य है।

हम देख सकते हैं कि युक्ति की वैधता इस बात पर निर्भर करती है कि किसी युक्ति में जो निष्कर्ष निकाला जा रहा है वह नियमानुसार है अथवा नहीं। लेकिन ये नियम क्या हैं ?..................................

किन्हीं आधार वाक्यों से निष्कर्ष निकालने के दो तरीके हम इस्तेमाल करते हैं। एक तरीका है निगमन का और दूसरा तरीका है आगमन का। अब हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि निगमन और आगमन क्या होते हैं ?

आगमन

जैसा कि हमने अध्याय के आरंभ में चर्चा की है कि हम समस्याओं पर विचार करते हैं और किसी नतीजे पर पहुंचते हैं। हमने संक्षेप में यह भी जानने की कोशिश की है कि ज्ञान के अलग–अलग क्षेत्रों में हम किस प्रकार नतीजे पर पहुंचते हैं। दैनिक जीवन में हम आगमन का अनेक बार प्रयोग करते हैं। हालांकि यह संभव है कि हम कभी इस तरह से नतीजों पर पहुंचने की प्रक्रिया के बारे में सावचेत नहीं रहते हों कि आखिर हम इस नतीजे पर पहुंचे कैसे रहे हैं। आगमन को एक उदाहरण से समझते हैं। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति जंगल में गया है। वह उस जंगल में एक खास जानवर, सियार, को बार–बार देखता है। मान लीजिए, उस व्यक्ति ने करीब आधे घंटे में लगभग सौ सियार देख हैं तो सामान्य रूप से

वह इस नतीजे पर पहुंचेगा कि इस जंगल में या जंगल के इस इलाके विशेष में सियार अधिक संख्या में हैं। इसे ही दूसरे उदाहरण से भी समझ सकते हैं कि मान लीजिए, कोई व्यक्ति किसी जंगल में कौनसे पेड़–पौधे ज्यादा हैं, इसका अध्ययन करने जाता है। अन्य पेड़ों की बनिस्बत नीम के पेड़ों को ज्यादा संख्या में पाता है तो वह सामान्य रूप से इस नतीजे पर पहुंच सकता है कि इस जंगल में नीम के पेड़ अधिक हैं। इसी तरह हम किसी नये शहर में जाकर देखते हैं कि वहां के अधिकतर पुरुष धोती–कुर्ता पहने हुए हैं। हम सहज ही रूप से इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि यहां के पुरुष धोती–कुर्ता पहनते हैं।

इस तरह हम रोजमर्रा में बहुत से नतीजों पर पहुंचते हैं। लेकिन इस तरह से नतीजों पर पहुंचने में आपने गौर किया होगा कि किसी नतीजे पर पहुंचने वाला व्यक्ति उस तरह की विशेष चीजों को देखता है और बार–बार उसी तरह की चीज को देखता है। इसके बाद वह अपने नतीजे को सामान्यीकृत करता है। अर्थात् एक–एक चीज से

किसी नई जगह या गांव में गए हैं। आप वहां बहुत–सी चीजों को एक नये व्यक्ति की नजर से देखते हैं। उन चीजों में एक पैटर्न नजर आता है। मान लीजिए, किसी गांव में आप हर कहीं नीम के पेड़ देखते हैं। आपने देखा कि अन्य पेड़ों की बनिस्बत नीम के पेड़ ज्यादा हैं। हो सकता है कि आप इस नतीजे पर पहुंचें कि यहां कि आबोहवा नीम के पेड़ों के अधिक अनुकूल है। या आप पक्के मकानों की अधिक संख्या और एक खास तरह के डिजायन को देखकर कहें कि यहां के मकान इस तरह के हैं।

यदि इन उदाहरणों पर गौर करें तो हम पाएंगे कि जब हम बहुत–सी विशेष चीजों को एक ही तरह का देखते हैं तो हम उनका सामान्यीकरण करते हुए एक नतीजे पर पहुंचते हैं। मान लीजिए, हमने एक कौआ देखा जो कि काला था, हमने दूसरा कौआ देखा जो काला था, तीसरा देखा, चौथा देखा और इस तरह से हजारों कौवें देखने के बाद हमने कहा कि, 'सभी कौवें काले होते हैं'। कौवें काले होते हैं, यह हमारा नतीजा है। इसमें हमने विशेष कौओं को देखते हुए एक सामान्य नतीजा निकाला कि, 'सभी कौवें काले होते हैं'। इस तरह हम विशेष उदाहरणों से सामान्य की ओर जाते हैं।

आगमन विधि से तर्क करते हुए हम दैनिक जीवन के अलावा विज्ञान में भी व्यापक रूप से उपयोग करते हैं। इस तरह के निष्कर्ष या नतीजे निकालते हुए हम दो नियमों को खासतौर से उपयोग में लाते हैं। दैनिक जीवन में हम आगमन का प्रयोग करते हुए एक तरह का पैटर्न या गुणों में समानता देखते हैं। जैसे, जितनी बार हमने नमक को चखा वह हमें खारा लगा। नमक का यह गुण हमने हर बार देखा और एक सामान्य निष्कर्ष निकाला कि नमक खारा होता है। इसी तरह कुछ चीजों में पैटर्न भी देखते हैं जैसे कि, किसी शहर में सड़कों पर यदि वाहनों की दुर्घटनाएं ज्यादा हो रही हैं और हम देखते हैं कि जहां–जहां दुर्घटनाएं हो रही हैं वहां–वहां सड़क के बीच में सड़क विभाजक (डिवाइडर) नहीं हैं। इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जहां डिवाइडर नहीं होता वहां दुर्घटनाएं ज्यादा होती हैं। इस तरह के उदाहरणों में भी हम आगमन के माध्यम से निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

विज्ञान में आगमन तर्क का प्रयोग दो नियमों के तहत होता है। एक है, कारण–कार्य संबंध और दूसरा है घटनाओं में समरूपता। कारण–कार्य संबंध में हम देखते हैं कि, 'राधा मरणशील है', 'मोहन मरणशील है', 'सोहन मरणशील है' और इसी तरह बहुत से लोग मरणशील हैं। इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि व्यक्ति और मरणशीलता के बीच एक संबंध है। इस संबंध को कारण–कार्य का संबंध कहा जा सकता है। इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि आग में जलाने की शक्ति होती है। जितनी बार भी आग को देखा उसमें जलाने की शक्ति को भी देखा। इन उदाहरणों से हम आग और जलाने की शक्ति के बीच एक संबंध देखते हैं। यह भी कारण–कार्य का संबंध है। इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि बारिश होने के लिए बादल होना अनिवार्य है। यानी, यदि बादल नहीं होंगे तो बारिश नहीं होगी। बादल और बारिश में भी कारण–कार्य का संबंध है। विज्ञान में इस तरह कारण–कार्य संबंध को देखते हुए सामान्य नतीजों पर पहुंचा जाता है। क्योंकि मनुष्य अतीत और भविष्य की चीजों को नहीं जान सकता। अतः वह इस तरह से चीजों के बीच कारण–कार्य संबंध देखकर अतीत और भविष्य के बारे में कथन करता है। जैसा कि हमने देखा कि, 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'। हमने यह कथन कहने से पहले अतीत में जितने लोग मरे हैं उन्हें नहीं देखा है और भविष्य में जो लोग मरेंगे उन्हें भी नहीं देखा है लेकिन इस संबंध के माध्यम से हम अतीत और भविष्य के बारे में कथन करने में सक्षम बनते हैं। अतः आगमन हमारे सोचने और नतीजों तक पहुंचने का एक अहम स्रोत होता है।

निगमन

निगमन विधि का भी हम अपने रोजमर्रा के जीवन में खूब इस्तेमाल करते हैं। आगमन में जहां हम कुछ विशेष उदाहरणों का सामान्यीकरण करते हैं वहीं निगमनात्मक विधि में हम कुछ सामान्य सिद्धान्तों से विशेष उदाहरण के बारे में भी जान पाते हैं। निगमन के लिए यह जरूरी है कि पहले से हमारे पास कोई सामान्य सिद्धान्त हो। मसलन, 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि ममता मरणशील है। क्योंकि हमने यह पहले मान लिया है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। इसके साथ यह भी माना है कि ममता मनुष्य है। निगमनात्मक युक्ति में आधार वाक्यों से निकलने वाला निष्कर्ष निश्चियात्मक होता है। अतः यदि किसी युक्ति में किए गए दावे निश्चियात्मक हैं वह निगमनात्मक युक्ति होगी।

निगमन विधि का उपयोग गणित भरपूर होता है। हमारे गणित के नतीजे इसी विधि से निकाले जाते हैं। विज्ञान में भी कुछ सिद्धान्तों के आधार पर किसी विशेष घटना को समझने के प्रयास किए जाते हैं। विज्ञान में इस विधि का एक उदाहरण यह हो सकता है कि मान लीजिए, वैज्ञानिकों ने यह साबित कर दिया है कि सजीव होने के लिए श्वसन, प्रजनन आदि आवश्यक हैं। किसी वैज्ञानिक को यदि कोई अनजानी चीज दिखाई दी। उसे वह चीज पेड़ जैसी लगी तो वह देखने की कोशिश करेगा कि क्या यह श्वसन करता है, क्या यह प्रजनन करता है। यदि ये लक्षण उस अनजानी चीज पर लागू हो गए तो वह कहेगा कि यह सजीव है।

आगमन और निगमन का संबंध

आगमन और निगमन पर चर्चा के बाद हम देख सकते हैं कि इन दोनों में एक फर्क है। यह फर्क इस बात का है कि तर्क करते हुए जब हम विशेष से सामान्य की ओर पहुंचते हैं तो वह आगमन विधि के माध्यम से होता है। इसमें एक–एक घटना या उदाहरण को देखकर हम सामान्यीकरण करते हैं। लेकिन निगमन में हमारे पास पहले से कोई सामान्य सिद्धान्त होता है। उससे हम विशेष की व्याख्या करते हैं।

विज्ञानों में नई खोज और जानकारियों के लिए आगमन विधि का उपयोग होता है। लेकिन जब ये जानकारियां सार्वभौमिक रूप से सही साबित हो जाती हैं और जब उन्हें हम सामान्य सिद्धान्त के तौर पर मान लेते हैं तो उससे हम विशेष की व्याख्या भी करते हैं। जैसे कि हमने अलग–अलग व्यक्तियों को मरते हुए देखा और इससे इस सामान्य नतीजे पर पहुंच गए कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' यह एक सामान्य सिद्धान्त हो गया। अब इसके माध्यम से हम किसी विशेष व्यक्ति की मरणशीलता के बारे में हम कह सकते हैं। अतः यह विधियां एक–दूसरे अलग होते हुए भी एक–दूसरे से संबंधित हैं। लेकिन गणित में निगमन विधि में अनुभव के साथ कोई रिश्ता नहीं होता। उसकी मान्यताएं पहले से तय की जाती हैं। अतः उसमें जो भी माना गया है वह सामान्य के तौर पर ही माना जाता है। इसलिए उसमें निकाले जाने वाले नतीजे सदा ही निगमन विधि से होते हैं। मान लीजिए, हमने मान लिया कि 10 के क्या मायने हैं, इसी तरह हमने यह भी मान लिया है कि 15 और 20 के क्या मायने हैं। हमने यह भी तय कर लिया है कि कौन सी संख्या किससे बड़ी है। अब इस आधार पर हम कह सकते हैं कि–

1. 20 बड़ा है 15 से।
2. 15 बड़ा है 10 से।
3. अतः 20 बड़ा है 10 से।

इस प्रकार हम सभी अपने चिन्तन में और नतीजे निकालने में इन दोनों विधियों का उपयोग करते हैं। मानवीय ज्ञान का समस्त भंडार इन्हीं विधियों से निर्धारित होता है। लेकिन यह तो संभव है कि हम इन विधियों का इस्तेमाल करने में चूक करें। हम जिन तरीकों से नतीजों पर पहुंच रहे हों वे तरीके सही नहीं हों। हरेक व्यक्ति को इस बारे में सचेत रहने की भी आवश्यकता होती है कि यदि वह किसी तरह के नतीजों पर पहुंच रहा है तो उसके आधार सही हैं या नहीं। इसलिए तर्कशास्त्र में हमारे सोचने और नतीजों पर पहुंचने की त्रुटियों पर भी विचार किया जाता है, जिनकी वजह से हमारे निष्कर्ष गलत हो सकते हैं। आगे हम इन त्रुटियों की चर्चा करेंगे। तर्कशास्त्र में इन्हें तर्क दोष भी कहते हैं।

तर्क दोष

जैसा कि हमने उपर देखा है कि हम तर्क करते हुए गलती कर रहे हो सकते हैं। ये गलतियां कई तरह की हो सकती हैं। हम आपसी वार्तालाप में अनेक बार बहुत–सी गलतियाँ करते हैं। यहां तर्क दोष का अर्थ है कि युक्ति में किसी ऐसे विचार को स्थापित करना जो कि असत्य हो या दूसरे तरह से कहें तो तर्क दोष का अर्थ युक्ति को इस तरह से पेश करना कि वह उपर देखने में तो सही लगे लेकिन उसका परीक्षण करने पर सही नहीं पाई जाए। ये तर्क दोष भी कई प्रकार के होते हैं।

1. तर्क दोष का एक उदाहरण यह है कि अपनी बात मनवाने के लिए बल का प्रयोग करना। मान लीजिए, कोई व्यक्ति अपनी बेटी से कहे कि तुम्हें अकेले घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए। बेटी पूछे कि क्यों नहीं निकलना चाहिए। इसके जबाव में वह कहे कि लड़कियों का घर से अकेले बाहर निकलना ठीक

नहीं है। बेटी इसके बाद भी पूछ कि क्यों ठीक नहीं है। वह व्यक्ति कहे क्योंकि मैं तुम्हारा पिता हूं और उम्र में तुमसे बड़ा हूं। इसलिए मेरी बात मानो।

देखने पर लग सकता है कि पिता के द्वारा घर से बाहर नहीं निकलने के लिए दी गई युक्ति ठीक है लेकिन यहां स्पष्ट रूप से ही पता चलता है कि पिता ने घर से अकेले बाहर नहीं निकलने के लिए पर्याप्त तर्क नहीं दिए हैं और अन्त में उसने अपने पिता होने और बड़े होने को अपनी ताकत के रूप में इस्तेमाल किया है। इसे तर्कशास्त्र में शक्ति प्रयोग का तर्क दोष कह सकते हैं। इस तरह के बल या शक्ति का प्रयोग आमतौर पर लोग बहुत करते हैं। दबाव डालकर करवाये गए काम इसी के तहत आते हैं। यानी, किसी काम को करने के लिए कोई तार्किक आधार नहीं होने पर यदि व्यक्ति अपने पद, हैसियत अथवा आर्थिक हैसियत के बल पर काम करता है तो वह इस तर्क दोष का इस्तेमाल कर रहा है।
शिक्षा में भी अनेक बार इस तर्क दोष को शिक्षक बच्चों पर या अधिकारी अन्य कार्मिकों अथवा शिक्षकों के लिए इस्तेमाल करते हैं। जब शिक्षक बच्चों के पास कक्षा में करने के लिए काम नहीं होने पर और बच्चों के आपस में बात करने पर यह कहता है कि चुप रहो। यहां शिक्षक चुप रहने के लिए कोई तर्क नहीं देकर सिर्फ यह कह रहा है कि मैं कह रहा हूं इसिलए चुप रहो। इस तरह बहुत बार आम जीवन में और शिक्षा में भी इस तरह के तर्क दोष का इस्तेमाल किया जाता है।

2. अनेक बार ऐसा भी होता है कि किसी तर्क की सत्यता को अप्रमाणित या प्रमाणित करने के बजाए तर्क देने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा आचरण को निशाना बनाया जाता है या उस पर लांछन लगाया जाता है तब इस तर्क दोष का प्रयोग किया जा रहा होता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के खिलाफ थाने में उत्पीडन का मामला दर्ज हुआ। कोर्ट में उत्पीड़क से यह पूछे जाने पर कि क्या उसने ऐसा किया है, वह यह कहे कि इस व्यक्ति का चरित्र खराब है। यह इस तरह के तर्क दोष का उदाहरण है। क्योंकि अपने को बचाने के लिए वह व्यक्ति के चरित्र को निशाना बना रहा है।

    इस तरह ही जब किसी व्यक्ति के तर्क की सत्यता अथवा असत्यता को प्रमाणिकता या अप्रमाणिकता को जांचने के बजाए एक व्यक्ति की जाति, धर्म, संस्कृति अथवा समूह आदि को उसके खिलाफ आधार बनाया जाए। मान लीजिए, कोई व्यक्ति कहे कि मनुस्मृति दलितों और महिलाओं के हितों के खिलाफ है। कोई दूसरा व्यक्ति यदि यह कहे कि इसकी बात को इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि यह ब्राह्मण या शिक्षित नहीं है। इसमें व्यक्ति यह नहीं पूछकर कि मनुस्मृति किस तरह दलितों और महिलाओं के खिलाफ है, उस व्यक्ति की जाति या शिक्षा को आधार बना जा रहा है। हमारे समाज में एक समय तक बहुत से ग्रन्थों के बारे में बोलने का अधिकार सिर्फ इसी तर्क दोष के चलते किसी और जाति के लोगों के पास नहीं था। उन्हें सिर्फ ब्राह्मण ही पढ़ सकते थे और वे ही उसकी व्याख्याएं कर सकते थे। यदि इनके अलावा किसी और ने उनके बारे में बोला तो उसके खिलाफ समाज नाराज होता था या सजा देता था।

3. अनेक बार किन्हीं विषयों पर अज्ञान को आधार बनाकर भी तर्क दोष का इस्तेमाल किया जाता है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति कह सकता है कि भूत होते हैं। दूसरा पूछे कि कैसे मानें कि भूत होते हैं तो वह व्यक्ति कहे क्योंकि भूत नहीं होते हैं, इसे अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। इस तरह के तर्क में किसी चीज की सत्यता इसलिए मान ली गई है क्योंकि इस विषय पर अज्ञान है। इसी तरह ईश्वर होता है, इसके लिए भी लोग यही तर्क देते हैं क्योंकि अभी तक यह सिद्ध नहीं किया जा सका है कि ईश्वर नहीं है। अतः ईश्वर होता है। यहां भी तर्क के बजाए हमारे अज्ञान को आधार बनाया जा रहा है।

4. जब तर्क के बजाए किसी व्यक्ति के पक्ष में दया उत्पन्न करने का प्रयास किया जा रहा हो तब भी तर्क दोष का इस्तेमाल होता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए, किसी व्यक्ति ने कोई अपराधा किया है। अदालत में उसका वकील यह तर्क दे कि साहब इसे इसलिए सजा नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि इसके छोटे–छोटे बच्चे हैं। यदि इसे सजा दी गई तो उनका क्या होगा। इस तर्क में उस व्यक्ति के द्वारा किए गए अपराध पर चर्चा नहीं करके दया उत्पन्न करने का काम किया जा रहा है। अतः यह भी एक तर्क दोष की श्रेणी में आएगा।
5. अनेक बार चर्चा में इस तरह के प्रश्न भी पूछे जाते हैं जिनमें पहले से एक तरह का जवाब छिपा रहता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के खिलाफ यदि यह मुकदमा है कि वह अपने बच्चों को उत्पीड़ित करता है। विपक्ष का वकील उससे यह पूछे कि आपने अपने बच्चों को कब से पीटना छोड़ा है। विपक्षी वकील ने पहले से ही यह मान लिया है कि वह व्यक्ति अपने बच्चों को पीटता है। इस तरह अनेक बार ऐसे प्रश्न किए जाते हैं जिनमें पहले से ही जवाब निहित होता है।
6. आप सभी यदि टेलीविजन देखते हों तो आपने एक खास तर्क दोष के कुछ मामले देखे होंगे जिसमें किसी व्यक्ति की ख्याति या प्रसिद्धि का इस्तेमाल किया जा रहा हो। आपने देखा होगा कि सौन्दर्य प्रसाधनों या किन्हीं चीजों के विज्ञापनों में निर्माता ख्याति प्राप्त लोगों का उपयोग करते हैं। यह ऐसे लोगों की ख्याति का इस्तेमाल अपने पक्ष में करना है जिससे उनकी बिक्री बढ़े, चाहे वह व्यक्ति उस क्षेत्र के बारे में कुछ नहीं जानता हो।

   इसी में दूसरे तरह के तर्क दोष का भी इस्तेमाल किया जाता है। मान लीजिए, कोई क्रिकेट का खिलाड़ी यह कहे कि पृथ्वी प्राकृतिक नियमों से नहीं बल्कि ईश्वर की कृपा से अस्तित्वमान है। इस उदाहरण को बदलना है।

इसी तरह के बहुत से तर्क दोषों का इस्तेमाल रोजमर्रा के जीवन में किया जाता है। लेकिन इन्हें समझकर हम इनसे बच सकते हैं और अपने तर्क को सही जगह पर लाकर चर्चा को सही दिशा में इस्तेमाल कर सकते हैं। मान लीजिए, कोई किसी मोटर साईकल के विज्ञापन में किसी फिल्म अभिनेता को देखे जो कह रहा हो कि ये सबसे अच्छी मोटर साईकल है तो इन दोषों के बारे में सावचेत व्यक्ति कह सकता है कि कोई मोटर साईकल अच्छी है या नहीं, इसे तय करने का काम ऑटोमोबाइल इंजीनियर को करना चाहिए बजाए फिल्म अभिनेता के। अतः तर्कदोषों की समझ हमें तर्क और युक्ति का सही प्रयोग करने में हमारी मदद करता है।

क्या मुझे जहां आरंभ में विभिन्न विषयों में चिन्तन के तरीके और नतीजों पर पहुंचने की बात की है वहा इतिहास, विज्ञान, गणित और समाज विज्ञान में युक्ति के उदाहरण देने चाहिए।

इतिहास की युक्ति में मेरे पास विपिन चन्द्रा की पुस्तक में कांग्रेस का गठन अंग्रेजों की इस मंशा के खिलाफ कि भारतीय जन मानस में उभरते जन असंतोष के खिलाफ सेफ्टी वॉल्व के बजाए तात्कालिक समाज की राजनैतिक असंतोष के कारण हुआ इसका उदाहरण देना चाहिए। यहां बात इसको सिद्ध करने का मकसद नहीं है बल्कि सामान्यतया यह बताने का है कि इतिहास में युक्ति का प्रयोग किस तरह होता है। इसी तरह गणित और समाज विज्ञान में भी युक्ति दी जा सकती है? क्या राय है ?

❁❁❁❄❁❁❁

ईकाई–3
व्यक्ति और समाज

पृष्ठभूमि :

शिक्षा में होने वाले प्रत्येक काम के पीछे कोई सिद्धांत होता है। सिद्धांत में यदि कोई खामी है तो उसे सुधारा जा सकता है और पुनः उसके अनुसार काम किया जा सकता है। अर्थात, पहले सिद्धांत, फिर काम। शिक्षा में ऐसा कभी नही हो सकता कि पहले काम और फिर सिद्धांत। क्योंकि सिद्धांत ही हमें बताते है कि हमें क्या करना है, क्यो करना है, कैसे करना है, ऐसा ही क्यों करना चाहिए, आदि। शिक्षा के सिद्धांतों को हम मोटे तौर पर दो हिस्सों में बांट सकते है– शिक्षा के सामान्य सिद्धांत और शिक्षा के विशिष्ट या सीमित सिद्धांत। सामान्य सिद्धांत, विशिष्ट सिद्धांतों से भिन्न होते है। जहां सामान्य सिद्धांत हमें शिक्षा क्या है, शिक्षित व्यक्ति होने से क्या आशय है, शिक्षा का समाज से क्या संबंध है, आदि व्यापक मुद्दों के बारे में हमे एक अंतर्दृष्टि देते है : वही सीमित या विशिष्ट सिद्धांत हमे किन्ही खास छोटे–छोटे मुद्दों पर, उदाहरणार्थ : बच्चों को किस उम्र में क्या सिखाए, विषयों को कैसे पढाएं, आदि पर एक समझ विकसित करने में मदद करते है। एक सामान्य सिद्धांत विभिन्न सीमित या विशिष्ट सिद्धांतों को अपने भीतर समाहित किए होता है। इसे एक उदाहरण से समझते है : प्लेटो अपने ग्रंथ ''दि रिपब्लिक'' में अनेक सीमित या विशिष्ट सिद्धांत प्रस्तुत करता है– कैसे बच्चों में प्रकृति में व्याप्त क्रमबद्धता और नियमितता का बोध विकसित करें, शिक्षा में काव्य व कवि के प्रति क्या रुख अपनाए, कैसे सुनिश्चित करें कि भविष्य के सैनिक स्वस्थ व मजबूत हो, आदि–आदि। किंतु वह ये सब सीमित या विशिष्ट सिद्धांत एक सामान्य सिद्धांत के तहत देता है– वो सामान्य सिद्धांत जिसका उद्देश्य एक खास प्रकार का व्यक्ति बनाना है, ऐसा जो राज्य को चलाने में सक्षम हो।

सिद्धांत चाहे कोई भी हो, सामान्य या विशिष्ट, दो विशेषता सभी में पाई जाती है। सभी सिद्धांत तर्को का एक तानाबाना होते है। कह सकते है कि वे एक तार्किक संरचना है। ये तर्क कुछ मान्यताओ या पूर्वधारणाओं पर टिके होते है। अर्थात यह दूसरी विशेषता है, सभी सिद्धांतों में कुछ मान्यताए या पूर्वधारणाए अवश्य ली जाती है। जहां तक शिक्षा के सामान्य सिद्धांतों का सवाल है, उनमें आमतौर पर जो मान्यताए और पूर्वधारणाए ली जाती है, वे एक तो सिद्धांतों के उद्देश्य के बारे में होती है, उदाहरणार्थ : किसी सामान्य सिद्धांत में यदि कहा गया है कि शिक्षा का उद्देश्य जनतांत्रिक नागरिक बनाना होना चाहिए और फिर यह सिद्धांत बताता है कि ऐसा क्यों आवश्यक है और किस प्रकार ऐसा नागरिक बनाया जा सकता है। यहां यह सिद्धांत अंतिम रुप से जो प्राप्त करना चाहता है वह है ''जनतांत्रिक नागरिक'' यह इस सिद्धांत का उद्देश्य कहा जा सकता है। तो फिर अवश्य ही इस सिद्धांत में अपने इस उद्देश्य अर्थात ''जनतांत्रिक नागरिक'' के बारे में कुछ मान्यताए या पूर्वधारणाएं ली जाएगी। अर्थात "जनतांत्रिक नागरिक" के मायने क्या है, इसकी विशेषताए क्या है, यह अन्य नागरिकों से कैसे भिन्न है, आदि–आदि।

उद्देश्य के अतिरिक्त, शिक्षा के सामान्य सिद्धांतों में जो मान्यताएँ व पूर्वधारणाएँ ली जाती है वो बच्चों के बारे में, या यूं कहे कि व्यक्ति की प्रकृति के बारे में, ज्ञान के बारे में, शिक्षण विधि के बारे में ली जाती है। ये सारी मान्यताएं एक आधार प्रदान करती है जिस पर सिद्धांत के सारे तर्क गढ़े जाते है और किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। इस अध्याय में हमारी रुचि व्यक्ति की प्रकृति के बारे में ली जाने वाली मान्यताओं व पूर्वधारणाओं को जानने में होगी।

व्यक्ति की प्रकृति के बारे में मान्यताएं

वास्तव में हम शिक्षा के सभी सामान्य सिद्धांतों को यदि ध्यान से देखे तो पाएंगे कि वे बच्चे को एक खास प्रकार का व्यक्ति बनाना चाहते है और वो ऐसा कैसे बन सकते हैं इसके शिक्षण शास्त्रीय तरीके सुझाते है। लेकिन इस उद्देश्य और शिक्षण शास्त्रीय तरीकों के बीच सिद्धांत बनाने वालो को उस बच्चे के बारे में भी कुछ मान्यताएं लेनी पड़ती है जिसे शिक्षा द्वारा एक खास प्रकार का व्यक्ति बनाना है। जैसे उदाहरण के तौर पर यदि कोई यह मानता है कि शिक्षा का उद्देश्य ''जनतांत्रिक नागरिक'' बनाना है, तो इस मान्यता में यह अंतर्निहित है कि वह व्यक्ति यह मानता है कि बच्चों की प्रकृति अर्थात व्यक्ति की प्रकृति को कुछ हद तक बदला जा सकता है। अन्यथा बच्चों को सिखाने का कोई मतलब ही नही बनता यदि कुछ भी करने से उनमे कुछ परिवर्तन नही होता। अतः इस प्रकार की अनेक मान्यताएं व धारणाएं हमें बच्चों की प्रकृति के बारे में बनानी ही पड़ेगी। यह एक तार्किक अनिवार्यता है। शिक्षा में कोई भी सिद्धांत बिना इन मान्यताओं और धारणाओं के बनाया ही नहीं जा सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति की प्रकृति के बारे में कोई भी मान्यता या धारणा बनाये कैसे? कुछ भी मान लेने से या अनुमान लगाने से तो बात नही बनेगी। हम गलती से ऐसी धारणाएं बना सकते है जो व्यक्ति की प्रकृति में हो ही नही। अतः पहले हमें व्यक्ति की प्रकृति को ठीक ढ़ंग से समझना पडेगा, इसकी जांच–पड़ताल करनी पड़ेगी, फिर कहीं जाकर कोई मान्यता या धारणा बनानी होगी। साथ ही साथ हमारी मान्यता सही है यह सिद्ध करने के लिए कुछ प्रमाण भी जुटाने पडेंगे। किंतु यह प्रक्रिया जितनी सरल दिख रही उतनी सरल है नहीं। चलिए इसे समझने की कोशिश करते है। इसे समझने के लिए मै आपको अतीत में ले चलता हूं। भारत के एक प्रसिद्ध शायर नजीर अकबराबादी ने 18 वी शताब्दी में एक नज़्म लिखी "आदमी नामा"। इस नज़्म में उन्होंने व्यक्ति की प्रकृति के विभिन्न आयामों को उकेरा है। इस नज़्म के कुछ अंश यहां उदाहरण के लिए दिए गए है :

"आदमी नामा"

...नेमत जो खा रहा है सो है वोह भी आदमी
टुकड़े जो मांगता है सो है वोह भी आदमी
...यां आदमी ही पास है और आदमी ही दूर
...शैतान भी आदमी है जो करता है मकर ओ जोर
और हादी, रहनुमा है सो है वोह भी आदमी

मस्जिद भी आदमी ने बनाए है यां मियां
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुतबा ख्वान
पढ़ते हैं आदमी ही नमाज और कुरान यां
और आदमी ही उन की चुराते हैं जूतियाँ

उनको जो ताड़ता है सो है वोह भी आदमी

यां आदमी पे जान को वारे है आदमी
और आदमी ही तेग से मारे है आदमी
पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी
और सुन के दौड़ता है सो है वोह भी आदमी!

ये आदमी ही करते हैं सब कारे दिलपजीर
यां आदमी मुरीद है और आदमी ही पीर
अच्छा भी आदमी कहाता है ए नजीर
और सबमें जो बुरा है सो है वो भी आदमी

इन अंशों को पढ़ कर तो ऐसा लगता है कि व्यक्ति की प्रकृति सकारात्मक व नकारात्मक दोनों प्रकार की है। वह अच्छा भी है और बुरा भी। वह चोरी भी कर सकता है और भीख भी मांग सकता है। वह किसी के लिए अपनी जान दे भी सकता है और किसी की जान ले भी सकता है, आदि–आदि। इन सब तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे व्यक्ति की अपनी कोई प्रकृति नही होती सिवाय इस क्षमता के जिसे किसी भी रुप में ढ़ाला जा सकता है। वो अच्छा बनेगा या बुरा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके चारों और किस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियां है।

एक बात तो स्पष्ट है कि व्यक्ति की प्रकृति के बारे में कोई एक मान्यता नहीं है। एक और खास बात है जिस पर हमें विशेष तौर पर ध्यान देना है। व्यक्ति की प्रकृति के बारे में अलग–अलग धारणाएं व मान्यताएं हमें इस बारे में कि व्यक्ति को इस दुनिया में क्या करना चाहिए और वह ऐसा कैसे कर सकता है, अलग–अलग मत प्रस्तुत करती है। उदाहरण के तौर पर यदि हम यह मान ले कि हमे सर्वशक्तिमान ईश्वर ने बनाया है, तो फिर उसके द्वारा निर्धारित उद्देश्य ही यह तय करेंगे कि हम क्या बन सकते है और हमे क्या बनना चाहिए। हम फिर हमेशा उसके मार्गदर्शन और उसकी मदद पर निर्भर रहेंगे। दूसरी ओर यदि हम यह मान ले कि व्यक्ति समाज का उत्पाद है, और हम यह पाते है कि समाज में बहुत सारे लोग अत्यधिक दयनीय जीवन जी रहे है, तो इनके जीवन में सुधार तभी संभव है जब हम पूरे समाज को बदले। इसी प्रकार यदि हम यह मानते है कि हम पूर्ण रूप से मुक्त है अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने व बनने के लिए, तो फिर हमे यह मानना पडेगा कि हम अपने हर चुनाव (जो भी हम चुने) की जिम्मेदारी ले और यह सुनिश्चित करें कि हम जो भी कर रहे है वो पूरी जागरूकता के साथ कर रहे है।

इसी प्रकार यदि हम यह मानते हैं कि हम जो सोचते हैं, करते हैं और महसूस करते हैं वो सब जैविकीय तौर पर निर्धारित होता है, तो फिर हमारे लिए अच्छा होगा कि हम व्यक्तिगत चुनाव करते समय व सामाजिक नीतियों को बनाते समय व्यक्ति की जैविक प्रकृति को ध्यान में रखें। कहीं ऐसा ना हो कि हम अपनी जैविक क्षमताओं से अधिक का सपना देख रहे हों।

देखा आपने, कितना कुछ निर्भर करता है व्यक्ति की प्रकृति के बारे में ली गयी मान्यताओं पर! ये मान्यताऐं व्यक्ति के मायने, उसके जीवन की परिभाषा व उद्देश्य, व्यक्ति को कैसा बनना चाहिए, क्या करना चाहिए, किस दिशा में समाज को अग्रसर करने का प्रयत्न करना चाहिए, किस प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता है, आदि–आदि तमाम बातों को निर्धारित करती है। हमें इन प्रश्नों के जवाब देती है।

किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि हम किन मान्यताओं को मानें। यहां तो विभिन्न मान्यताऐं हैं। एक दूसरे की प्रतिद्वन्दी मान्यताऐं हैं। एक व्यक्ति की प्रकृति को एक तरह से देखती है तो दूसरी एकदम उल्टे तरीके से देखती है। क्या हम किसी भी मान्यता को मान लें? जिसमें मेरा विश्वास हो या आस्था हो उसे मान लें? मुझे लगता है, शिक्षा में काम करने वाले लोगों के लिए यह उचित नहीं होगा। क्यों कि शिक्षा आस्था या श्रद्धा से नहीं बल्कि विवेकशीलता और तर्क संगतता के आधार पर दी जाती है। दूसरा, एक

विद्यालय में काम करने वाले शिक्षकों के बीच शिक्षा के प्रति एक सांझा समझ होना अति आवश्यक है। शिक्षा क्या है, इसके क्या उद्देश्य हैं, व्यक्ति को भविष्य में किस रूप में देखते हैं, उनकी प्रकृति के बारे में क्या मान्यताऐं है, आदि–आदि, मुद्दों पर उनकी सांझा समझ होना आवश्यक है अन्यथा कोई भी शिक्षक इस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों के साथ न्याय नहीं कर पाएगा। एक शिक्षक बच्चों से एक प्रकार से व्यवहार करेगा जबकि दूसरा शिक्षक किसी अन्य प्रकार से।

अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम व्यक्ति की प्रकृति के बारे में एक सामान्य व साझा समझ विकसित करें और साझी मान्यताएँ बनायें। इसके लिए हम कुछ ऐसे चुंनिदा सिद्धांतों, विचारधाराओं या विचार–प्रणालीयों का अध्ययन करेंगे जिन्होंने व्यक्ति की प्रकृति को समझने की कोशिश की है। हम उनके प्रत्येक तथ्य या वक्तव्य को तर्क और विवेक की कसौटी पर कसेंगे और देखेंगे कि क्या सही है, क्या गलत या क्या अपनाया जा सकता है और क्या नहीं?

जिन सिद्धांतों या विचारधाराओं और विचार–प्रणालियों को इस अध्ययन हेतु चुना गया है उनके चुनाव का आधार हमने एक वैचरिक ढांचे (Framework) को बनाया है। इस वैचारिक ढांचे से हमारा आशय व्यक्ति की प्रकृति से संबंधित निम्न चार आयाम हैं :

1. यह जगत अस्तित्व में कैसे आया और व्यक्ति का इसमें क्या स्थान हैं? (जगत का सिद्धांत)
2. व्यक्ति, व्यक्ति के समाज और व्यक्ति के हालातों से संबंधित कुछ विशिष्ठ सामान्य दावें (व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत)
3. आमतौर पर व्यक्ति में क्या कमियां है, व्यक्ति के जीवन और समाज में क्या गलत होने के आसार होते हैं, इसकी व्याख्या। (व्यक्ति में कमियां)
4. इन कमियों को कैसे दूर करें और कैसे वैयक्तिक जीवन को जिया जाना चाहिए, इस पर मार्गदर्शन व संस्तुतियां (कमियों का निदान)।

उपरोक्त चार आयाम वह वैचारिक ढांचा है जिसे हमने अपने अध्ययन हेतु विभिन्न सिद्धांतों व विचारधाराओं को चुनने का आधार बनाया है। वास्तव में जिन–जिन सिद्धांतों या विचारधाराओं में उपरोक्त चारों आयामों पर व्याख्या दी गयी है, हमने केवल उन्हीं को चुना है, अन्यथा नहीं।

ऐसा हमने इसलिए किया क्योंकि हमारा मानना है कि केवल वे सिद्धांत या विचारधाराऐं ही हमें व्यक्तियों की प्रकृति की बेहतर समझ दे सकती है जो इस व्यापक वैचारिक ढांचे में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के तौर पर मात्र यह कह देना कि व्यक्ति के स्वार्थी बन जाने के आसार हमेशा बने रहते हैं, व्यक्ति में आमतौर पर क्या कमियां पायी जाती है उसकी यह बहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त व्याख्या है। ना तो इसमें यह समझाया गया है कि वे कौन–कौन सी बातें है जो हमें स्वार्थी बनाती है और ना ही यह कि हम स्वार्थी बनने से कैसे बच सकते हैं। इसी प्रकार यदि मार्गदर्शन या संस्तुति के नाम इतना भर कह दिया जाए कि हमें एक–दूसरे से प्रेम करना चाहिए, तो ना ये इस बात की व्याख्या देता है कि क्यों यह हमारे लिए इतना मुश्किल होता है और कैसे हम ऐसा कर सकते है। इसी तरह यदि हम विकास के सिद्धांत की बात करें तो यह हमें व्यक्ति का जगत में क्या स्थान है, इस बारें में कुछ महत्वपूर्ण बाते तो बताता हैं लेकिन यह इस बारे में कुछ नहीं बताता व्यक्ति का उद्भव कहां और कैसे हुआ। व्यक्ति के जीवन के मायने या उद्देश्य क्या है–हमें क्या करने और बनने का प्रयास करना चाहिए आदि प्रश्नों के जवाब देने का तो यह सिद्धांत प्रयास ही नहीं करता है। तो चलिए अब हम उपरोक्त वैचारिक ढांचें के अनुसार व्यक्ति की प्रकृति से संबंधित सिद्धांतों व विचारधाराओं का समालोचनात्मक अध्ययन करते हैं।

विभिन्न सिद्धांतों व विचारधाराओं का समालोचनात्मक अध्ययन

1. उपनिषदों में व्यक्ति की धारणा

(i) जगत का सिद्धान्त

वृहद अरण्यक उपनिषद् इस जगत की उत्पत्ति के बारे में बताता है कि इस जगत का ताना–बाना ब्रह्म के ईर्द–गिर्द बुना हुआ है। ब्रह्म ही जगत का आदि है और अंत भी। ब्रह्म ही अंतिम सत्य है और प्रत्येक चीज के अस्तित्व की वजह ब्रह्म ही है। उपनिषद में ऐसा माना गया है कि पूरे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पहले यहां कुछ नहीं था सिवाय ब्रह्म के। उन्होंने अपने आपको दो हिस्सों में बांट दिया–एक पुरुष और दूसरा स्त्री जिससे इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। एक ऐसा ब्रह्माण्ड जिसमें विभिन्न चीजें हैं – अलग–अलग स्वरूप हैं। किन्तु इस सबमें एक समानता, एक अटल एकता है–ब्रह्म! ब्रह्म सार्वभौम है, सर्वव्यापी है।

वास्तव में उपनिषद् में ब्रह्म के भी दो आयाम (रूप) बताये गये हैं–अमूर्त व मूर्त। अमूर्त अर्थात जिसका कोई रूप नहीं है और मूर्त, अर्थात जिसका एक तय रूप है। लेकिन यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि ये दो अलग–अलग ब्रह्म नहीं है, बल्कि एक ही है। बस ब्रह्म को देखने–समझने के दो नजरिऐ भर है। ये दुनियां जिसमें विभिन्न स्वरूप है, इन सबमें ब्रह्म व्याप्त है, ठीक इसी तरह जैसे नमक पानी में घुल जाता है। अतः पानी में कहीं से भी यदि घूंट पिया जाए (अर्थात दुनिया के किसी भी स्वरूप को यदि देखे) तो नमक का स्वाद तो आयेगा ही (अर्थात उस ब्रह्म का अहसास, उसका भान तो होगा ही)।

(ii) व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत :

वृहद अरण्यक उपनिषद के अनुसार जगत में जीवन के जितने भी रूप है वो सभी आपस में ब्रह्म के माध्यम से जुड़े हुए हैं। क्योंकि वो सबमें व्याप्त है। इसलिए मात्र व्यक्ति ही नहीं बल्कि सभी जीव हमारा परिवार है। इस प्रकार व्यक्ति का मूल तत्व ''स्वयं'' अन्य जीवों के ''स्वयं'' को उपनिषदों में ''आत्मा'' कहा गया है। ''आत्मा'' अपने आप में कोई स्वायत्त ''स्वयं'' नहीं है जो अन्य ''आत्माओं'' से अलग हो और स्वतंत्र रूप से संचालित होती हो। बल्कि यह तो वृहद वास्तविकता के उस नेटवर्क या संजाल का एक हिस्सा है जो एक दूसरे से जुड़ा हुआ है।

आत्मा अमर है, अजर है और प्रत्येक जीव का आंतरिक नियंत्रक है। आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। यदि कुछ नष्ट होता है तो वह जीव का वर्तमान शरीर। आत्मा तो अन्य शरीर धारण कर लेती है। इस प्रकार मृत्यु एवं पुर्नजन्म की श्रृंखला चलती रहती है। यह मृत्यु–जन्म का क्रम तभी बंद होता है जब आत्मा ब्रह्म में जाकर विलीन हो जाती है। इस स्थिति को मोक्ष कहते हैं, किन्तु मोक्ष केवल उन्हें मिलता है जिन्होंने साधना के जरिये ब्रह्म ज्ञान को अर्जित कर लिया हो। यह सर्वोच्च ज्ञान ही मानव जीवन को एक सफल जीवन बनाता है।

(iii) व्यक्ति में कमियां

मानव जीवन की सबसे बड़ी कमी यह है कि हम वास्तविकता की सच्ची प्रकृति की उपेक्षा करते हैं। जीवन की सफलता उस ब्रह्म को जानने में है। बिना उस एकाकार और अनंत ब्रह्म को जाने हम केवल आम चीजों जो कि मरणशील या नाशवान है को ही जान पाते है और इस मरणशील माया में लिप्त रहते हैं। इस उपेक्षा के चलते हम यह नहीं जान पाते कि वास्तव में हम हैं कौन? हम अपने आप को उस ब्रह्म से अलग करके देखना शुरू कर देते है। यह भटकाव ही सभी दुःखों व समस्याओं की जड़ है।

उपनिषदों के अनुसार इस प्रकार का भटकावपूर्ण व अकेला जीवन सबकुछ हो सकता है किन्तु मुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार का भटकावपूर्ण व अकेला जीवन व्यक्ति के कर्म पर आश्रित होता है। अतः व्यक्ति का जीवन कैसा होगा यह अब उसके कर्म पर निर्भर करता है। बुरे कर्म बुरा जीवन, अच्छे कर्म अच्छा जीवन। किन्तु एक आम व्यक्ति, जो अपने अस्तित्व को ब्रह्म से अलग देखता है, अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए कर्म करता और जैसा कर्म करता है वैसा बनता जाता है। इससे स्पष्ट है कि हम मनोवैज्ञानिक रूप से इस प्रकार बने हुए है कि सामान्य परिस्थितियों में हम कोई भी मुक्त कर्म नहीं कर सकते हैं। हम कर्म अपनी इच्छाओं के वशीभूत होकर करते हैं। उन्हें पूरा करने के लिए कर्म करते हैं और हमारी इच्छाएँ स्वयं हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम होती है जो हमारे अवचेतन मन में रिकार्ड रहते हैं। इच्छा हमें कर्म करने को प्रेरित करती है। कर्म हमारे मन पर एक प्रभाव छोड़ते हैं, जो अन्य इच्छा की, भविष्य के कर्म का मूल, प्रकृति को निर्धारित करते हैं। अतः व्यक्ति एक मनोवैज्ञानिक चक्र का गुलाम बनकर रह जाता है। योग व ध्यान हमें इसी दुष्चक्र से निकलने का रास्ता दिखाते हैं।

(iv) कमियों का निदान

उपनिषद मानते हैं कि यहां सर्वोच्च मुक्ति (मोक्ष) पाने की संभावना तो है हालंकि वृहद अरण्यक उपनिषद इसे प्राप्त करने का कोई एक रास्ता नहीं सुझाता है। किन्तु सामान्यतः जो महत्वपूर्ण माना जाता है वह है एक विशेष प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति। इस विशेष ज्ञान से ही व्यक्ति को मुक्ति मिल सकती है। किन्तु उपनिषदों में इस बात का खुलासा बहुत स्पष्ट तौर पर नहीं किया गया है कि कैसे यह विशेष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

बाद में अन्य विद्वानों ने इसकी व्याख्या की है। शंकराचार्य और रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं : कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान योग।

शंकराचार्य के अनुसार इन तीनों मार्गों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग में इच्छा पूर्ति का अंश विशेष होता है, उदाहरण के तौर पर कर्म के अनुसार स्वर्ग–प्राप्ति तथा भक्ति के आधार पर बैकुंठवास को जीव की परमगति समझी जाती है। परंतु इन दोनों में इच्छा–पूर्ति का संदेश है। (स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा या बैकुण्ठवास की इच्छा)। शंकराचार्य के अनुसार स्वर्ग–प्राप्ति नश्वर है और किसी भी कर्म से अर्जित लक्ष्य प्राप्ति नश्वर ही हो सकती है।

इन दोनों (कर्म और भक्तियोग) की तुलना में ज्ञान योग को निवृत्तिमार्ग कहा गया है जिसे सर्वकर्मसन्यास (अर्थात सभी कर्मो से सन्यास), अथवा सर्वकर्म फल–त्याग (अर्थात अपने किसी भी कर्म के फल की इच्छा ना रखना) बताया गया है। ज्ञान को शंकराचार्य ने किसी प्रकार की क्रिया (कर्म) नहीं माना है। इसलिए ज्ञान से प्राप्त मोक्ष अर्जित नहीं है।

2. गीता में व्यक्ति की धारणा

जगत का सिद्धान्त :–

गीता के अनुसार इस जगत के सभी वस्तुओं में ईश्वर का वास है। ईश्वर के दो अंश है– एक सत् तथा दूसरा असत्। ''सत्'' अंश से आत्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है तथा–''असत्'' अंश से आत्मा को धारण करने वाले शरीर की। आत्मा एवं शरीर से युक्त प्राणियों की कर्मभूमि इस भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी ''असत्'' अंश से होती है।

इस जगत के सभी प्राणीयों मे से मनुष्य को सबसे शक्तिशाली माना है क्योंकि उसके पास बुद्धि है। व्यक्ति के प्रकारों पर बात करते हुए गीता के अनुसार जगत में दो प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं– ज्ञानी व अज्ञानी। ज्ञानी व्यक्ति वह है जिसने ज्ञान को आत्मसात् कर लिया हो, वही जीवन–मुक्त कहलाता है। गीता में उसे स्थिर बुद्धिवाला अथवा स्थिर प्रज्ञ कहा गया है। स्थिर–बुद्धि वाला मनुष्य सभी कामनाओं का त्याग

कर देता है तथा अपने आप में संतुष्ट रहता है। दुःखों में वह क्षुब्ध नहीं होता है तथा सुखों का स्पर्श नहीं करता । ज्ञानी व्यक्ति इन्द्रियजनित विषयों में योहासक्त नहीं होता अर्थात् उनके प्रति अनासक्त हो जाता है।

गीता के अनुसार हम सब के अन्दर देवत्व का वास है जो कभी लुप्त नहीं होता। हम सब उस ईश्वरीय ज्योति से प्रकाशित है, जो जन्म–जन्मान्तर तक बनी रहती है, जिसे शस्त्र से नष्ट नहीं किया जा सकता, आग मे जलाया नहीं जा सकता, पानी में गलाया नहीं जा सकता तथा हवा में सुखाया नहीं जा सकता। यह दिव्य ज्योति, अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा इसकों देखा नहीं जा सकता, अचिन्त्य है, अचिन्तय है अर्थात् मन से इसे जाना नहीं जा सकता, अविकारी है अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा भी इसकी अनुभूति नहीं की जा सकती । इस पर मृत्यु का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह ज्योति नित्य है।

व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धान्त :–

गीता के अनुसार हम सबकी अन्र्तत्माएँ समान हैं, क्योंकि उन सभी में ईश्वरीय सत्ता विद्यमान है तथा प्रत्येक मनुष्य को निर्णय लेने की तथा कर्म करने की स्वतंत्रता है । प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर वासुदेव (ईश्वर) निवास करता है और जब व्यक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा से कोई कर्म करता है तो उसके पीछे ईश्वरीय प्रेरणा छिपी रहती है। चूँकि सभी प्राणियों में वही ईश्वर विद्यमान है, इसलिए ''स्वभाव'' अथवा सहज–कर्म (''स्व–धर्म'') की सहज प्रकृति से प्रेरित मनुष्य का कर्म सामाजिक अहित का कारण बन ही नहीं सकता। जब व्यक्ति सामाजिक कर्तव्य की भावना से कोई कार्य करता है, तो उससे उसमें अंहकार भाव प्रविष्ट कर जाता है जिससे उसका व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है। कर्तव्य हम किसी अन्य के लिए नहीं करते परन्तु आत्म प्रेरणा से अभिप्रेरित होकर करते है। कर्तव्य हमारा सामाजिक दायित्व नहीं है, अपितु अपने आप के प्रति दायित्व है। ऐसा न करने से समाज की विशेष हानि नहीं होगी परन्तु अन्तःकरण की आवाज के प्रति अनुत्तरित होने से हमारा विकास रूक जाएगा।

व्यक्ति में कमियाँ

गीता के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का वास है जो सोचने व कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन मनुष्य इन्द्रियजनित विषयों में योहासक्त अर्थात् उनके प्रति अनासक्त हो जाता है जो कि न केवल उसके आत्मानुभूति में बाधक उत्पन्न करता है बल्कि उससे उसका व्यक्तित्व अविकसित रहता है तथा उसमें अहंकार भाव प्रविष्ट कर जाता है।

कमियों का निदान

गीता के अनुसार मनुष्य की कमियों को दूर करने के लिए उसे आध्यात्मिक मुक्ति दिलवाने की बात कही गई है, जिसके द्वारा उसके समग्र व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो सके। आध्यात्मिक मुक्ति दिलवाने के फलस्वरूप मानवीय प्रकृति, दैवी प्रकृति बन जाती है, नैतिक आचरण सहज बन जाते हैं तथा ईश्वर के साथ समरूपता हो जाती है।

मुक्ति प्राप्त करने के लिए गीता मे कहा गया है कि मानवीय जीवन के तनावों के नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उन्हें रूपांतरित करने की आवश्यकता है। मुक्ति से मनुष्य के शरीर, मन, इन्द्रियॉ आदि नष्ट नहीं हो जाते, अपितु इस प्रकार शुद्ध हो जाते हैं कि उनके माध्यम से ईश्वरीय ज्योति के दर्शन किए जा सकते हैं।

गीता के अनुसार कर्तव्य हम सब में विद्यमान परमात्मा के प्रति समर्पण है। कर्तव्य करते समय किसी फल की इच्छा नहीं रखी जाती, परन्तु निर्लिप्त भाव से परिणाम की चिन्ता किए बिना कर्म किया जाता है। गीता में कर्तव्य को मानवीय कर्म नहीं, अपितु दैवी कर्म माना है।

अतः मनुष्य की कमियों को दूर करने के लिए उसे कहा है कि व्यक्ति को केवल सामाजिक, दायित्वों का निर्वाह करना ही सिखाना नहीं है, अपितु उसे अपनी अन्तरात्मा की आवाज को सुनने, समझने एवं उसका अनुसरण करने की योग्यता भी प्रदान करना होगा।

3. बाईबिल में व्यक्ति की धारणा

(i) जगत का सिद्धांत :

बाईबिल के अनुसार ईश्वर ने इस जगत की शून्य (Ex-nihilo) से सृष्टि की है। सर्वप्रथम इस सृष्टि–रचना में ईश्वर ने आकाश की रचना की, फिर जल और थल की, फिर वनस्पतियों की, पुनः सूर्य–चांद, तब जल और थल–जंतुओं की और अंत में मानव की रचना की।

मानव को ईश्वर ने अपनी छवि में बनाकर उसमें जीवन का श्वास भर दिया और समस्त सृष्टि पर उसके आधिपत्य को स्थापित कर उसमें विकास वृत्ति (विकास करते रहने की प्रवृत्ति) डाल दी। ईसाई धर्म के अनुसार सृष्टि अनिश्चित (Contingent) है किन्तु ईश्वर ने इसमें कुछ नियमबद्ध व्यवस्थाऐं भी बनायी है। इन व्यवस्थाओं को विज्ञान के माध्यम से जाना जा सकता है।

हां, इस सृष्टि की घटनाओं से, बाढ़–सूखा, तूफान–ओला इत्यादि के द्वारा व्यक्ति को ईश्वर दण्डित कर सकता है।

(ii) व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत :

बाईबिल के अनुसार ईश्वर ने मानव को केवल अपने ही बिम्ब में नहीं बनाया, बल्कि मानव को अपनी संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार भी दिया। सम्पूर्ण सृष्टि पर अधिकार देकर ईश्वर व्यक्ति से आशा रखता है कि वह सम्पूर्ण संसार को ईश्वर की इच्छानुसार रूप देगा।

ईश्वर ने अन्य जीव–जन्तु, वनस्पति तथा पशुओं के स्वभाव में स्थिरता प्रदान की है, पर मानव को निरंतर प्रगतिशील तथा गतिशील रखा है। उसके विकास का और इसी प्रकार उसके ह्रास का भी कोई अंत नहीं है।

ईसाई धर्म के अनुसार, व्यक्ति अवश्य संसार में रहता है, पर वह संसार का है नहीं, बल्कि ईश्वर का पात्र है। यदि व्यक्ति ईश्वर की आज्ञाओं का पालन न करें तो उसे दंड भोगना ही पड़ेगा।

(iii) व्यक्ति में कमियाँ :

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने व्यक्ति को अपनी छवि से बनाया, उसमें स्वतंत्र इच्छा प्रदान की और अच्छे–बुरे का ज्ञान दिया। ईश्वर का उद्देश्य था कि मानव अपनी इच्छा और विवेक से बुराई को त्यागकर अच्छाई को चुने और अंत में ईश्वर से मिलने के योग्य होने के लिए पवित्र संकल्पी बन सकें। मानव पवित्र संकल्पी तभी हो सकता है जब वह अपनी इच्छा को ईश्वर के अधीन कर दे और उसकी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन करें, क्योंकि ईश्वर की सेवा सच्ची स्वतंत्रता है। किन्तु व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाया। व्यक्ति ने पाप किये और बुराई को अपने आचरण में उतारा जिसके चलते अब वह भ्रष्ट हो गया है और पाप की दलदल में फंस गया है। वास्तव में मानव के अंदर पाप वृत्ति है।

(iv) कमियों का निदान :

बाईबिल के अनुसार मसीह पर विश्वास रखने से उनमें नये जीवन का संचार होता है। संत पीटर ने व्यक्ति के पापवृत्ति को दूर करने के और ईश्वर के करीब जाने की चार सीढ़ियां बताई है :

1. सर्वप्रथम यह माने कि हमें यीशु ने ही जन्म दिया और वही हमारा ईश्वर है। ऐसा मान लेने पर मन में शांति और पापों के प्रति विमुखता आती है।
2. विश्वास बिना कर्म के मुर्दा है। इसलिए शुभ कार्यों में लग जाना चाहिए।
3. तब धीरे–धीरे ज्ञान होने लगेगा कि उसके लिए ईश्वर की क्या इच्छा है और क्या आदेश है।
4. अंत में ईश्वरीय प्रेम में इतना बढ़ जाना चाहिए कि बिना भेदभाव के शत्रुओं तक से प्रेम करना स्वाभाविक हो जाना चाहिए।

4. कुरान में व्यक्ति की धारणा

(i) जगत का सिद्धांत :

कुरान के अनुसार ईश्वर (अल्लाह) ने कहा कि सृष्टि हो जा और सृष्टि हो गयी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने शून्य से इस जगत की सृष्टि की है। किन्तु ईश्वर ने जगत की सृष्टि लीला हेतु नहीं की है, उसने स्वर्ग, पृथ्वी और इनके बीच की सारी वस्तुओं को इसलिए रचा है कि उनका अध्ययन करने में मानव को सत्यता का ज्ञान हो। यहां प्रश्न उठता है कि किस प्रकार की सत्यता?

यहां सत्यता से तात्पर्य है ईश्वर के अस्तित्व को पहचानना, उसकी सामर्थ्य और महान शक्ति को पहचानना। मानव जब देखेगा कि इस जगत में जीवन और मरण दोनों हैं तो उसे ईश्वर की सामर्थ्य का अहसास होगा। ईश्वर चाहता है कि उसके द्वारा बनायी गयी सृष्टि का मानव अध्ययन करें और उसके रहस्यों को समझकर ज्ञान प्राप्त करें। इस ज्ञान से लाभ उठाकर अपना जीवन यापन करें और इस ज्ञान से समझें कि ईश्वर कितना शक्तिशाली है। ईश्वर चाहता है कि व्यक्ति इस ज्ञान के आधार पर भलाई का रास्ता चुनें।

(ii) व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत :

कुरान के अनुसार ईश्वर ने सूक्ष्म मिट्टी से मानव की रचना की और उसमें अपनी रूह (आत्मा) फूंक दी। ईश्वर ने मानव को स्वर्गदूतों से भी बढ़कर दर्जा दिया है। क्योंकि मानव में स्वतंत्र इच्छा है। इसमें बुद्धि है। ये दोनों जगत की किसी भी अन्य वस्तुओं या जीवों में नहीं है।

कुरान के अनुसार तीन मुख्य बातें व्यक्ति के संदर्भ में कही गई है : –

1. ईश्वर ने मानव को चुना फिर उसका मार्गदर्शन किया।
2. सभी दोषों के बावजूद ईश्वर ने मानव को इस दुनिया पर अपना प्रतिनिधि (Viceregent) बनाया है।
3. ईश्वर ने मानव को स्वतंत्र इच्छा देकर इस दुनिया में उसे अपने काम करने की जिम्मेदारी सौंपी है।

कुरान (सूरा 2) के अनुसार जब ईश्वर व्यक्ति को स्वतंत्र इच्छा देकर रचने लगा तो सब स्वर्गदूतों ने कहा, ''तू इन्हें स्वतंत्र इच्छा देकर खून और बुराई करने के लिए क्यों रच रहा है, जबकि हम सब तेरी केवल स्तुति ही करते आए हैं।'' लेकिन ईश्वर ने कहा कि, ''मैं व्यक्ति को स्वर्ग और पृथ्वी के रहस्यों को जानने के लिए बना रहा हूं अर्थात् जब व्यक्ति को सच्चा ज्ञान हो जाएगा तब वह सत्यसंकल्पी जीव होकर ईश्वर की स्तुति और उसकी महिमा गाएगा।''

कुरान में कहा गया है कि पूर्ण ज्ञानी होकर अपनी स्वतंत्र इच्छा को ईश्वर की इच्छा मानते हुए काम करने वाले जीव की रचना होना यही इस सृष्टि का चरम उद्देश्य है। इसलिए इस चरम उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वतंत्र इच्छा व्यक्ति को देनी पडी।

इसलिए व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा और बुद्धि का इस्तेमाल स्वर्ग व पृथ्वी के रहस्य को जानने हेतु करें और ईश्वर की इच्छा के अनुसार सत्यसंकल्पी जीव बनें। पर यदि वह यह रूप नहीं प्राप्त करेगा तो उसे नरक में जाना पड़ेगा और नारकीय यातनाऐं भोगनी पड़ेगी। कुरान में पुर्नजन्म को नहीं माना गया है।

(iii) व्यक्ति में कमियां :

ईश्वर ने मानव को इच्छा–स्वतंत्रता दी और बुद्धि भी। इसलिए मानव अपनी इच्छा से या तो अच्छे या बुरे, दोनों में से किसी एक को जब चाहे अपना सकता है। इसलिए ईश्वर व्यक्तिों के दुष्कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं है। ईश्वर चाहता नहीं है कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा का दुरूपयोग करे, पर उसे इसकी अनुमति देनी पड़ती है।

परन्तु विश्व की दुखपूर्ण घटनाऐं व्यक्ति को सुधारने, उसकी परीक्षा लेने और उसे चेतावनी देने के रूप में ईश्वर द्वारा समय–समय पर की जाती है। अतः सामान्य रूप से दुःख का कारण व्यक्ति का बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास है।

(iv) कमियों का निदान :

कुरान के अनुसार आचरण करना, तौबा अर्थात सन्यास, ईश्वर को धन्यवाद देना, ईश्वर का भय और आशा, दरिद्रता और आत्म–त्याग, ईश्वर की एकता में विश्वास और उस पर भरोसा, ईश्वर की प्रीति और उस पर भरोसा एवं संतोष, ईश्वर के प्रति, दृढ़ संकल्प एवं निष्कपटता और ईश्वर पर ध्यान आदि वो कर्म है जो व्यक्ति को बुराईयों से दूर ले जाते हैं।

5. बौद्ध दर्शन में व्यक्ति की धारणा :

(i) जगत का सिद्धांत :

बौद्ध धर्म में किसी भी प्रकार की ईश्वरीय सत्ता को नकारा गया है। बौद्ध धर्म बुद्विवादी माना जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद, बौद्व धर्म दर्शन का मूल और आदि मंत्र है। प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या है कि संसार एक घटना चक्र है। एक कोई घटना घटी तो इसके कारण कोई दूसरी घटना घटी, जब यह घटना नहीं होती तो अन्य वो घटना भी नहीं होती। अतः इसे सूत्र के रूप में कहा जायेगा–प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात जब यह, तब वह।

क्योंकि सभी वस्तुऐं मात्र घटनाएँ (अर्थात परिवर्तनशील प्रक्रियाएँ) है, इसलिए किसी भी वस्तु का स्थायी स्वभाव नहीं है। सभी वस्तुएं क्षण भंगुर है।

बौद्ध धर्म का मत है सभी वस्तुएं घटनाओं का एक समूह है। हम इन समूहों की पहचान के लिए नाम देते हैं जिसे नाम–रूप कहा जाता है। अतः नाम–रूप ही घटना–समूह को स्थायित्व प्रदान करता है लेकिन ध्यान रखना है कि वास्तव में कहीं भी स्थायित्व तथा नित्यता नहीं है। इस पूरी बात को एक उदाहरण से समझते हैं। एक जलती हुई मोमबत्ती निरंतर परिवर्तनशील घटनाओं का एक समूह और समूह को हमने नाम (नाम–रूप) दिया ''मोमबत्ती''। मोमबत्ती प्रति क्षण बदलती रहती है और जलते–जलते विलुप्त हो जाती है। किन्तु जब तक मोमबत्ती का प्रकाश बना रहता है, उसे हम वही मोमबत्त्ती समझते हैं (यहां स्थायित्व नाम–रूप ''मोमबत्ती'' से आया)।

बौद्ध धर्म के अनुसार जगत क्षणिक घटनाओं का प्रवाह मात्र है। बौद्ध धर्म विचारक इस जगत की दो तरह से व्याख्या करते है–संवृति–सत्य जगत व पारमार्थिक जगत। संवृति–सत्यं जगत में संवृति का

अर्थ है ''व्यवहारिक'', अतः रोजमर्रा के जीवन में हम चीजों, जीवों, वस्तुओं आदि सभी को नाम–रूप देते हैं और उसी को सत्य मानते हैं और स्थायी मानते हैं। (उदाहरण–मोमबत्ती)।

किन्तु वास्तव में तो ऐसा है नहीं, यह सम्पूर्ण जगत एक निरंतर चलने वाली घटनाक्रम है, क्षणभंगुर है, मिथ्या है। जगत को इस विचार से हम परमार्थिक–जगत कहते हैं।

(ii) व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत :

बौद्ध धर्म में आत्मा स्थायी या अमर नहीं है। जिसे जीवन कहा जाता है वह वास्तव में मनो–दैहिक क्षणिक घटनाओं के प्रवाह की व्यवस्था है। व्यवहारिक दृष्टि से इसे 'जीव' की संज्ञा दी जा सकती है।

बौद्धधर्म के अनुसार व्यक्ति 5 स्कन्ध (स्कन्ध उस अवस्था को कहते हैं जब कोई घटना–क्रम निरंतर चलता रहता है, परिवर्तित होता रहता है, किन्तु इस क्रम में एक समय ऐसा भी होता है जहां यह घटना प्रवाह एक समान रहता है–इस एक समान रूप को स्कन्ध कहते हैं। उदाहरण–कोई भी वस्तु–मेज, कुर्सी, अग्नि आदि) के गठन से बनता है। ये पांच स्कन्ध निम्न हैं :

1. रूप, अर्थात शारीरिक रूप–रंग, डील–डौल इत्यादि।
2. वेदना जिसके अंतर्गत हर्ष–विषाद, सुख–दुख चले आते हैं। मनोविज्ञान में इसे भाव संज्ञा दी जाती है।
3. संज्ञा अर्थात विभिन्न वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान।
4. संस्कार–जो अनेक जन्म–जन्मांतरों के अनेक कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होते है।
5. चेतना।

बौद्ध धर्म के अनुसार प्रत्येक स्कन्ध में दुख भरा हुआ है इसलिए सम्पूर्ण जीवन दुःखपूर्ण है।

(iii) व्यक्ति में कमियां :

बौद्धधर्म के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने दुःखों का कारण है। इन्द्रियसुख की तृष्णा मानव को बार–बार जन्म लेने (भव) के लिए विवश करती है। अब प्रश्न उठता है कि व्यक्ति जन्म ही क्यों लेता है तो इसका उत्तर है–अविद्या। अविद्या अर्थात हमें अहम् का, वस्तुओं के घटनाचक्र आदि का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए व्यक्ति जन्म–जन्मान्तर के चक्कर में फंसा रहता है। अर्थात् जन्म लेने का मुख्य कारण अविद्या है और संसारिक वस्तुओं से लिपटे रहने का कारण तृष्णा। इसलिए दुःख दूर करने के लिए इन दोनों कारणों को विशेष रूप से दूर करना आवश्यक समझा जाता है।

(iv) कमियां का निदान :

क्योंकि दुख का कारण है और कारण हटाया जा सकता है, इसलिए दुःख का अंत संभव है। दुःख के मूल में अविद्या और तृष्णा है। जब व्यक्ति अपने आप को स्थायी मान बैठता है और क्षणिक वस्तुओं को शाश्वत तो क्षणिक सुख की कामना करने लगता है और उसमें अहंभाव या आत्मभावना विकसित हो जाती है। यह अहंभाव ''मैं'', ''मेरा''' ही भ्रमपूर्ण मत है और सभी दुःखों की जड़। इसलिए दुःख को दूर करने का मार्ग वह है जिसमें अपनेपन का भाव ''मैं'' को दूर किया जाता हो। इस भाव को दूर करने हेतु बौद्ध धर्म में तीन उपाए बताए गये हैं :

1. शील – बुराई से हटकर सन्मार्ग पर चलना, वासनाओं पर नियंत्रण।
2. समाधि – ध्यान, अपरिमित (संवेगों का शोधन), सिद्धियां।
3. प्रज्ञा – सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पूर्णता–प्राप्ति में देखना।

6. इम्मेनुअल कांट के दर्शन में व्यक्ति की धारणा

इससे पहले कि हम कांट के दर्शन में व्यक्ति की धारणा का अध्ययन करें हमें उस दौर को समझना पड़ेगा जिसमें कांट रह रहे थे और अपने विचार विकसित कर रहे थे। कांट 17वीं शताब्दी के दूसरे दशक (1724) में पैदा हुए और 18वीं शताब्दी के पहले दशक (1804) में उनकी मृत्यु हुई। 17वीं शताब्दी के मध्य से शुरू होकर और मौटे तौर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक के काल को प्रबोधन या ज्ञानोदय काल कहां जाता है। इस काल में इस जगत (भौतिक दुनिया) को समझने, इसके बारे में ज्ञान हासिल करने हेतु विज्ञान को एक मात्र विश्वसनीय रास्ता माना गया।

18वीं शताब्दी में पूरे यूरोप में एक वैचारिक आंदोलन चला जिसमें माना गया कि विज्ञान से ही हमें व्यक्ति की प्रकृति के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा और इसी से ही हम व्यक्ति के परिस्थितियों को सुधार पाऐगा। वास्तव में यदि इस पूरे प्रबोधन काल को कोई संक्षिप्त में बताना चाहे तो वह ऐसा कह सकता है कि इस काल में समाज का व्यक्तिक तर्कना या बुद्धि या विवेक (Reason) पर एक भरोसा विकसित हुआ और यह विश्वास आया कि इसके जरिये व्यक्ति के जीवन में सुधार किए जा सकते हैं।

ऐसा सोचा गया कि व्यक्तिक तर्कना या बुद्धि विज्ञान के माध्यम से मानव समाज के भले के लिए (उदा. चिकित्सा और शिक्षा) और इसके सुधार (उदा. अर्थशास्त्र व नीति) हेतु प्रयोग की जा सकती है और हम अकल्पनीय तरक्की की ओर बढ़ सकते हैं।

इसी प्रकार, इस दौर में यह भी माना गया कि विज्ञान हमारे जीवन का मार्गदर्शन करेगा और अब यह धर्म, नैतिकता, राजशाही और सामाजिक परम्पराओं का स्थान ले लेगा।

कांट इस दौर के प्रमुख दार्शनिक थे। उपरोक्त पृष्ठभूमि के साथ अब जानेंगे कि कांट के दर्शन में व्यक्ति की धारणा की कैसे व्याख्या की गई है।

(i) जगत का सिद्धांत :

वास्तव में काण्ट ने ईसाइयत और विज्ञान दोनों से विचारों को लिया और दर्शन की कुछ मूलभूत समस्याओं पर अपने विचार दिए। ईसाई धर्म में (जैसा कि हमने बाईबिल के अध्ययन में देखा है) ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता और सर्वव्यापी माना जाता है। इसी प्रकार आत्मा को अमर और इच्छा–स्वतंत्रता के साथ देखा गया है। काण्ट पर इन मान्यताओं का तो प्रभाव था ही परंतु उस पर एक अन्य खास ईसाई विचारधारा का प्रभाव भी था जो उसे उसके माता–पिता से मिला। उसके माता–पिता पाइटिज्म (Pietism) को मानते थे जिसमें धार्मिक सिद्धांतों, सामूहिक विश्वासों और रीति–रिवाजों से ऊपर उठकर ईश्वर में व्यक्तिगत निष्ठा–भक्ति रखना और उचित जीवन जीना शामिल है।

काण्ट मानते हैं कि यह जगत पदार्थ (Matter) से बना है। वह कहते हैं कि इस जगत में होने वाली सभी घटनाओं (यहां तक की मानसिक प्रक्रियाओं को भी) को हमें उन घटनाओं के ''सारतत्व'' अर्थात पदार्थ में होने वाले परिवर्तन के तौर पर देखना चाहिए। पदार्थ भौतिक (Physical) है। और पदार्थ से यह जगत बना है, अर्थात यह जगत भौतिक है और इसमें होने वाली घटनाऐं भौतिक घटनाऐं है। सभी भौतिक घटनाओं का एक कारण होता है और यह कारण हम एक घटना से पहले जो घटना घटी है उसको जानकर जान सकते हैं। काण्ट मानते हैं कि इस जगत में सब कुछ एक भौतिक वास्तविकता का हिस्सा है।

वास्तव में काण्ट ने एक महत्वपूर्ण विचार यहां दिया है। उसने माना कि व्यक्ति हमेशा से पारमार्थिक तत्व (Metaphysical Principle) [1] को समझने के चक्कर में रहा है अर्थात् परम सत्य क्या है, परम सत्ता कौन आदि। किन्तु काण्ट मानते हैं कि यह मानना कि हम पारमार्थिक तत्व को जान सकते हैं एक भ्रम है, एक भ्रामक मान्यता है अर्थात् अगर हम यह दावा करते है कि आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, कार्य–कारण से परे कोई घटना आदि पारमार्थिक तत्वों या घटनाओं को जान सकते हैं तो यह हमारा भ्रम है। काण्ट का मानना है कि इस जगत में जो कुछ भी जिस रूप में हमारे सामने है और वास्तव में वो जैसा है, दोनों में अंतर है। और वास्तव में इसका क्या रूप है वो जानना व्यक्ति की क्षमता में नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता हैः व्यक्ति के पास 5 ज्ञानेन्द्रियां (स्पर्श, सूंघना, सुनना, देखना, स्वाद) है जिसके माध्यम से हम इस जगत की वस्तुओं का अनुभव प्राप्त करते हैं, किन्तु इन ज्ञानेन्द्रियों की अपनी सीमा है। यदि आप मान लें कि मैं आपको ऐसा चश्मा पहना दूं जिससे आपको चीजों से निकलने वाली उष्मा दिखाई दे तो आपको बगैर चश्में के दिखाई देने वाली दुनियां और चश्में सहित दिखाई देने वाली दुनियां में जमीन आसमान का फर्क दिखाई देगा। अब यदि मैं आपको ऐसा चश्मा पहना दूं जिससे उष्मा के अतिरिक्त वातावरण में घूम रही पराबैंगनी किरणें भी दिखाई दे तो यह दुनियां पहली दोनों से भिन्न होगी। इसी प्रकार हम इस चश्में को सुधारते जाए और अलग–अलग क्षमताएं जोड़ते जाए तो यह दुनियां हर बार अलग स्वरूप में दिखेगी और यह क्रम हमेशा चलता रहेगा। इसलिए काण्ट कहते हैं कि वास्तविक रूप को तो हम नहीं जान सकते। किन्तु काण्ट मानते हैं कि हम इस भौतिक जगत (जिसका हम प्रत्यक्ष अनुभव कर पाते हैं) का तो अध्ययन कर सकते हैं। हम इसका अध्ययन विज्ञान के माध्यम से, अपने विवेक या तर्क से कर सकते हैं।

(ii) व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत :

काण्ट व्यक्ति को तर्कशील, बुद्धिमान और विवेकशील तथा मुक्त एवं नैतिक प्राणी मानता है। वह यह भी मानता है कि ये सभी विशेषताएँ उसे अन्य प्राणियों से भिन्न बनाती है। काण्ट मानते हैं कि व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही कुछ खास बौद्धिक क्षमताएँ (Cognitive Faculties) लिए हाते हैं। जैसे वस्तुओं के बीच कोई संबंध है (कार्यकारण संबंध) यह समझने की क्षमता, ज्ञानेद्रियों से होने वाले अनुभवों (सुगन्ध, स्वाद, दृश्य आदि) के बिम्ब मस्तिष्क में बनने की क्षमता, इन बिम्बों अर्थात अनुभवों को व्यस्थित करने (मस्तिष्क में) की क्षमता, तुलना करने की क्षमता, भेद करने की क्षमता, विश्लेषण करने की क्षमता, समन्वयन करने की क्षमता, आदि ऐसी बौद्धिक क्षमताएँ जिन्हें काण्ट जन्मजात मानते हैं। इनको काण्ट ने "Reason" कहा है। हिन्दी में "Reason" के लिए कई शब्दों का इस्तेमाल होता है जैसे – तर्क, बुद्धि, विवेक।

इसके अतिरिक्त काण्ट मानते हैं कि व्यक्ति न केवल 'रीजन' (Reason) के माध्यम से चिंतन–मनन कर सकता है बल्कि वह दुनियां में अपने कर्मों के जरिये परिवर्तन भी करता है।

काण्ट मानते हैं कि व्यक्ति बिना वजह कुछ नहीं करता अर्थात् कर्म के कारण होते हैं। व्यक्ति कुछ कर्म अपनी इच्छाओं को पूरा करने हेतु करते हैंः मुझे 'B' चाहिए, और मुझे विश्वास है कि 'B' प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीका 'A' है, अतः मुझे 'A' करना चाहिए। इस प्रकार किया गया कर्म व चुनाव विवेकसंगत (Rational) है।

---

[1] **पारमार्थिक तत्व (Metaphysical Principle)** – यहां 'प्रिंसिपल' का अर्थ सिद्धांत नहीं, बल्कि तत्व है। आदिकाल से एक ऐसे तत्व की कल्पना की गई है जिससे संसार की सभी सत्ताओं की उत्पत्ति हुई है। इंसान ने हमेशा से इस विश्व की सृजनात्मक, नियामक और विलोपात्मक क्रियाओं को एक ही सत्ता या शक्ति अर्थात 'पारमार्थिक तत्व' के संदर्भ में समझने की कोशिश की है ।

किन्तु काण्ट मानते हैं कि हम हमेशा सभी विवेकसंगत चुनाव केवल अपनी इच्छापूर्ति के लिए ही नहीं करते, बल्कि कभी–कभी तो हम अपनी इच्छाओं के विपरीत जाकर भी कर्म करते हैं। उदाहरण के तौर पर कभी–कभी हम ऐसी परिस्थिति में, यह जानते हुए भी कि झूठ बोलना मेरे हित में है, सच बोलते है। काण्ट मानते हैं कि व्यक्ति में एक नैतिक बोध है। एक नैतिक कर्तव्य का बोध है इसलिए वह नैतिक कर्म कर पाता है। और क्योंकि हम चीजों में चुनाव करते और फिर किसी निर्णय पर पहुंचते हैं इसलिए हम कह सकते हैं कि हम मुक्त है। ये सारी खासियतें व्यक्ति को अन्य प्राणियों से अलग करती है क्योंकि अन्य किसी में ये खासियतें नहीं है।

(iii) व्यक्ति की कमियां :

काण्ट मानते हैं कि व्यक्ति न तो जानवर के समान है जो केवल अपनी इच्छापूर्ति करने में लगे रहते हैं और ना ही देवता के समान जिनमें कोई स्वार्थ और इच्छा ही नहीं होती। व्यक्ति तो जानवर व देवता का कुछ मिला–जुला सा रूप है। एक ओर यह स्वार्थी और कामना/इच्छा रखने वाला प्राणी है और दूसरी ओर विवेकसंगत भी है और नैतिक कर्त्तव्य बोध से बंधा हुआ भी है। इच्छापूर्ति और कर्तव्य बोध के बीच व्यक्ति के जीवन में एक खीचतान चलती रहती है और यही समस्याओं की जड़ है। काण्ट मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन कभी भी इस खींचतान से मुक्त नहीं हो सकता। और ना ही कभी हम नैतिकता या कर्तव्य के शिखर पर पहुंच सकते। किन्तु हम विवेकसंगत और इच्छापूर्ति व कर्तव्य के बीच एक संतुलन बनाते हुए अच्छा जीवन जी सकते हैं।

(iv) कमियों का निदान :

लेकिन अब प्रश्न उठता है कि कैसे इच्छापूर्ति व कर्तव्य के बीच संतुलन बनाया जाए? काण्ट मानते हैं कि एक तो हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्ति होना अपने आप में अंत है और हमारी सच्ची प्रकृति इस व्यक्ति के समाज में ही प्रकट हो सकती है। व्यक्ति को कर्तव्य निभाने या पुण्य करने हेतु दण्ड/भय या पुरस्कार का लालच देकर प्रेरित नहीं किया जा सकता है। बल्कि व्यक्ति को एक नैतिक विमर्श और चर्चा में शामिल करना होगा जहां तर्क और विवेक के आधार पर उसमें गलत और सही की समझ विकसित करनी होगी। काण्ट कहते हैं कि व्यक्ति में रूझान (Dispositions) विकसित किये जा सकते हैं इसलिए हमें उसमें अच्छे कार्य करने के रूझान विकसित करने चाहिए।

काण्ट मानते हैं कि दुनियां में कुछ अच्छे परिवर्तन लाना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि अच्छे कारणों के लिए काम करना भी आवश्यक है। अच्छे कर्म करने के लिए बाहरी नियम कायदे थोपने से काम नहीं चलेगा, इसके लिए आंतरिक प्रेरणा व रूझान की आवश्यकता होती है। और यह थोपने से नहीं बल्कि तर्कसंगत विमर्श से विकसित होता है।

7. कार्ल मार्क्स व फ्रेडरिक ऐंजिल के दर्शन में व्यक्ति की धारणा

मार्क्स व ऐंजिल ने मिलकर 18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवाद पर अपने सिद्धांत दिए। इन दोनों के विचारों को द्वंद्वात्मक–भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहते हैं। द्वंद्वात्मक (Dialectical) से यह तात्पर्य उस वैचारिक प्रणाली से है जिसमें दो विरोधी स्थितियों की समीक्षा करते हुए, दोनों के महत्व को ग्रहण करतें हैं, और सत्य की ओर अग्रसर होने का प्रयास किया जाता है। मार्क्स ने इस विचार प्रणाली का इस्तेमाल पूंजीपतियों व मजदूरों के रिश्तों की व्याख्या करने हेतु किया है। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। मान लेते हैं कि यहां दो आत्मनिर्भर व्यक्ति हैं और दोनों एक दूसरे को अपना प्रतिद्वंदी मानते हैं। एक अपनी सत्ता दूसरे पर चलाना चाहता और दूसरा पहले पर। एक संघर्ष चलता रहता है और आखिर में एक व्यक्ति ऐसा करने में कामयाब हो जाता है। वह दूसरे को अपना गुलाम बना लेता है। अब उनके बीच मालिक और नौकर का रिश्ता है, हांलाकि यह रिश्ता कोई स्थायी या शांतिपूर्ण

नहीं होता। फिर भी पहले–पहल तो ऐसा ही लगता है कि मालिक ही सबकुछ है, नौकर कुछ भी नहीं। केवल नौकर काम करता है और अपने काम से इस प्राकृतिक दुनिया में परिवर्तन करता है। इस क्रम में धीरे–धीरे यह नौकर अपनी हैसियत, अपनी प्रकृति और इस दुनिया के बारे में सचेत होने लगता है। उसमें अब एक आत्म–चेतना विकसित होने लगती है, जबकि मालिक अब नौकर पर निर्भर रहने लगता है। अतः यह द्वंद्व तब खत्म होता जब नौकर मुक्त हो जाता है।

दूसरी तरफ 'भौतिकवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जो भौतिक पदार्थ (जैसे हवा, पानी, आकाश आदि) को किसी ना किसी रूप में प्राथमिक मानता है। भौतिकवाद मानसिक या आत्मिक सत्ताओं (जैसे ईश्वर) को या तो बिल्कुल ही अस्वीकार करता है, या उन्हें भौतिक पदार्थ के ही सूक्ष्म रूप समझता है। आगे हम समझेंगे कि मार्क्स ने किस प्रकार व्यक्ति की धारणा की व्याख्या की है।

(i) जगत का सिद्धांत :

जैसा कि पहले बताया गया है कि मार्क्स भौतिकवादी था। अतः वह मानता था कि यहां कोई ईश्वरी सत्ता नहीं है। यह जगत भौतिक पदार्थ से बना है और परिवर्तनशील है। दूसरी ओर मार्क्स ने मानवीय समाज का एक भौतिकवादी इतिहास प्रस्तुत किया। मार्क्स का मानना था कि मानव और मानव समाज के बारे में जानने और समझने के लिए केवल विज्ञान पर्याप्त नहीं है बल्कि इसके लिए सामाजिक–आर्थिक नियमों को भी समझना आवश्यक है। मार्क्स का मानना था कि मानवीय समाज में कुछ सामान्य सामाजिक–आर्थिक नियम लागू होते हैं। मार्क्स ने इन्हीं नियमों को समझने का प्रयास किया था। मार्क्स ने मानव समाज के इतिहास को आर्थिक दृष्टिकोण से देखा और पाया कि समाज में एक आर्थिक दौर या अवस्था (Stage) अपने से अगली अवस्था को जन्म देती है और उसके विकास की आधारभूमि बनती है। उसका मानना था कि हर दौर में जो तकनीकी और आर्थिक विकास होता है उसके प्रभाव समाज की सोच पर पड़ते हैं, अतः वैचारिक परिवर्तन होते हैं।

(ii) व्यक्ति की प्रकृति का सिद्धांत :

मार्क्स का मानना है कि व्यक्ति मूल रूप से एक सामाजिक प्राणी है। ''व्यक्ति की वास्तविक प्रकृति सामाजिक रिश्तों की सम्पूर्णता है।'', मार्क्स ने कहा था। मार्क्स का मानना है कि हमारी प्रकृति स्थायी नहीं है बल्कि निरंतर परिवर्तनशील है। उसने कहा था कि, ''सम्पूर्ण इतिहास और कुछ नहीं है सिवाय व्यक्ति की प्रकृति के निरंतर परिवर्तन के।'' व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह एक सामाजिक कर्म है क्योंकि वह कर्म एक तो यह मानकर किया जाता है कि यहां अन्य व्यक्ति है जिनको यह कर्म प्रभावित कर सकता है और कर्त्ता के उनके साथ किसी ना किसी रूप में सामाजिक संबंध होते हैं। यहां तक कि जिस प्रकार हम अपना भोजन पैदा करते हैं और अपने बच्चों का लालन–पालन करते हैं, यह सब भी हम सामाजिक रूप से सीखते हैं। किसी भी प्रकार का आर्थिक उत्पादन भी एक सामाजिक सहयोग की मांग करता है अन्यथा यह संभव ही नहीं है। इसलिए मार्क्स का मानना है कि हमें समाज को एक रहस्यमयी और अमूर्त व्यवस्था के रूप में नहीं देखना चाहिए जो लोगों को एक रहस्यमयी ढ़ंग से प्रभावित करती है। बल्कि व्यक्ति जिस समाज में रहता है और उसमे रहने वाले अन्य लोगों से मिलता–जुलता है, बातचीत करता है, आचार–विचार प्रदान करता है, विमर्श करता है–ये सब उसकी प्रवृत्ति और कर्मों को प्रभावित करते हैं। अर्थात् केवल व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रकृति को ही नहीं बल्कि वह किस समाज में रहता है, इस पर भी विचार करना चाहिए।

मार्क्स आगे चलकर कहते हैं कि व्यक्ति एक सक्रिय व उद्यमी व सृजनशील प्राणी है जो हमें जानवरों से अलग करता है। हम अपनी जीविका के साधन विकसित करते हैं – इसकी तुलना मधुमक्खी द्वारा शहद उत्पादित करने से नहीं की जा सकती (या अन्य प्राणियों के विभिन्न क्रिया–कलापों से) क्योंकि

हम योजना बनाकर उत्पादन करते हैं और एकदम नयी परिस्थितियों में भी उत्पादन या जीविका उपार्जन कर सकते हैं, किन्तु अन्य प्राणी ऐसा नहीं करते।

(iii) व्यक्ति में कमियां :

मार्क्स का मानना है कि जिसके पास पूंजी नहीं है वह जीविका चलाने हेतु अपना श्रम पूंजीपतियों को बेचता है। और पूंजीपति उसका शोषण करते हैं उससे उसके पारिश्रमिक (मजदूरी) से अधिक काम लेकर। दूसरा, औद्योगिकरण के कारण वस्तुओं का निर्माण/उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाने लगा, जिसमें अब मजदूरों को, एक ओर तो किसी एक सम्पूर्ण वस्तु या उत्पाद बनाने/उत्पादित करने का अवसर कम मिलता है–वे अब किसी एक वस्तु के छोटे–छोटे हिस्सों या टुकड़ों को बनाते हैं और किसी एक को ही बनाते जाते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी इंजन के कलपुर्जे आदि। दूसरी ओर उनका शोषण, कम मजदूरी, काम की जगह में खतरे, वहां का प्रदूषण, उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव आदि मिलकर मजदूर को अपने काम से विमुख (Alienated) कर देते हैं। मजदूर को अब इस प्रकार के कार्यों में अपना हुनर या सृजनात्मकता को देखने/दिखाने का मौका नहीं मिलता, उसे कोई एक सम्पूर्ण उत्पाद को बनाने/सृजित करने के भाव से मिलने वाली संतुष्टि नहीं मिलती। और तो और, लगातार प्रदूषण और कई घंटों तक काम करने की वजह से वह निरंतर एक अवसाद की ओर जाने लगता है। ये सारे भाव मिलकर उसे अपने इस काम से विमुख कर देते हैं। अब वह यह काम अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए और पैसे के लिए करता है। अर्थात समाज में एक व्यवसायीकरण की प्रवृत्ति विकसित होती है। श्रम बेचो, वस्तु बेचो, या खरीदों और अपनी आवश्यकता की पूर्ति करो, बस। व्यक्ति यहां अपने आप से अलग–अपनी प्रकृति से अलग हो जाता है। अब वो एक आर्थिक उत्पादक और उपभोक्ता बनकर रह जाता है। अन्य सभी सामाजिक रिश्ते गौण हो जाते हैं। मजदूर अब पूंजीपतियों की सम्पत्ति बनकर रह जाता है।

इस विमुखता और शोषण से कैसे बचे? क्या भूमि, फैक्ट्रियों, यातायात और बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए? किन्तु यदि राष्ट्र–राज्य ही शोषण करने लगे तो? तब तो वह और भी खतरनाक होगा। वास्तव में मार्क्स मानते हैं कि लोगों में विमुखता का एक कारण यह भी है कि उनमें सामूहिकता का अभाव है। वो अपने काम को एक समूह/समुदाय के तौर पर नहीं देख पाते हैं। और राष्ट्र–राज्य एक समुदाय या समूह नहीं बन सकता क्योंकि वह बहुत बड़ा होता है। अतः चीजों का राष्ट्रीयकरण करने के बजाय मार्क्स उनका विकेन्द्रीकरण करने को कहते हैं–छोटे–छोटे समुदायों को उनका नियंत्रण देने की बात करते हैं। किन्तु इन छोटे–छोटे समुदायों की सफलता पर सवाल खड़े किये गये।

अपने बाद के विचारों में मार्क्स ने कहा कि पूंजीपति समाज व्यक्ति की उसकी सम्पूर्ण प्रकृति के अनुसार फलने–फूलने का मौका नहीं देता। व्यक्ति के अस्तित्व का उद्देश्य केवल आर्थिक उत्पादन करना ही नहीं है बल्कि आर्थिक उत्पादन व्यक्ति के भले के लिए है।

(iv) कमियों का निदान :

यदि व्यक्ति उसकी परिस्थितियों से बनता–बिगड़ता है, तो फिर ये परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिए जहां व्यक्ति पूर्ण रूप से फल–फूल सकें। यदि विमुखता और शोषण ऐसी सामाजिक समस्याऐं हैं जिनका कारण पूंजीपति अर्थव्यवस्था है तो ऐसी व्यवस्था को ही बदला जाना चाहिए और कोई बेहतर व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।

मार्क्स ऐसा करने के लिए एक साम्यवादी क्रान्ति शुरू करने को कहते हैं। ईश्वर या अन्य कोई सत्ता हमारी मदद के लिए नहीं आने वाले हैं।

अपने घोषणापत्र "Communist Manifesto" में मार्क्स पूंजीपति अर्थव्यवस्थाओं में सुधार करने के कुछ उपाय भी बताते हैं जिसके प्रभाव के चलते कुछ देशों में कुछ परिवर्तन भी किये गये जैसे मुफ्त शिक्षा, आर्थिक नियंत्रण राज्य के हाथों में, मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आदि।

इसी प्रकार मार्क्स मानते हैं कि हमें मानवता के विकास में जुट जाना चाहिए। किन्तु, मार्क्स ऐसा एक धर्मनिरपेक्ष समाज में हो ऐसी अपेक्षा करते हैं।

उपरोक्त धारणाओं का विश्लेषण करने पर व्यक्ति के संबंध में निम्नानुसार धारणाएं बनती है–

(i) व्यक्ति इस जगत में अन्य प्राणियों में खास है और बेहतर है क्योंकि इसके पास अन्य प्राणियों से बेहतर शारीरिक व बौद्दिक क्षमताएँ है।अतः अपने जीवन को बेहतर (जैसा कि व्यक्ति की प्रवृत्ति) बनाने हेतु उसे इस जगत को समझना पड़ता है और ऐसा वह अपनी शारीरिक व मानसिक क्ष्मताओं के बल बूते करता है।

(ii) व्यक्ति अपने साथ कुछ जन्मजात बौद्धिक क्षमताऐं व कर्तव्य/नैतिक बोध लेकर पैदा होता है। यह सभी में मूल रूप से समान है।

(iii) व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह एक समाज में ही फल–फूल सकता है। समाज में रहने के लिए उसे यहां की प्रत्येक चीज को सीखना पड़ता है। वह जो सीखता है वैसा ही करता है। सामाजिक परिस्थितियां, संबंध व अंतःक्रियाऐं उसके चिंतन, उसके सीखने व व्यवहार और कर्मों को प्रभावित करते हैं।

(iv) व्यक्ति चुनाव करता है। चुनाव के तर्क देता है। चुनाव कर्तव्य/नैतिक बोध के आधार पर भी करता है।

(v) व्यक्ति के जीवन में दुःखों/परेशानियों का मूल धार्मिक संकीर्णता इच्छापूर्ति के लिए कर्तव्य/नैतिकता को नजरअंदाज करना, समाज में विमुखता, शोषण व असमानता है।

(vi) समस्याऐं तभी दूर हो सकती है यदि सामाजिक परिस्थितियों को ऐसा बनाया जाए जहां व्यक्ति पूर्ण रूप से फल–फूल सकें।

उपरोक्त धारणा के अनुसार समाज की रचना

यदि हम व्यक्ति की उपरोक्त धारणा को मान लेते हैं तो हमारे सामने अब एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि वह कैसा समाज होगा जहां यह व्यक्ति अपनी प्रकृति के मुताबिक जीवन व्यतीत कर सकें ? यदि बहुत मोटी–मोटी विशेषताऐं हम समाज की कल्पित करना चाहें तो वे कुछ इस प्रकार होगी :

(i) जहां व्यक्ति स्वतंत्र हो अपनी इच्छापूर्ति के लिए।

(ii) किंतु इसके लिए जरूरी है कि वह दूसरों की इच्छापूर्ति के आडे ना आऐं।

(iii) अर्थात् सभी को समान हक, समान अवसर, स्वतंत्रता, न्याय प्राप्त हों। ताकि कोई किसी का शोषण ना कर सकें। अपने विचार या मंशा थोप न सकें।

(iv) व्यक्ति को हर चीज इस समाज में आकर सीखनी पड़ती है। दूसरा उसे इसी दुनिया/समाज में रहना होता, जीवन व्यतीत करना होता है, बेहतर बनाना होता है। यह सब वह तभी कर सकता है जब उसे इस दुनिया की, समाज की समझ हो। और यह समझ शिक्षा के माध्यम से विकसित की जा सकती है। अतः हर व्यक्ति को शिक्षा मिल सकें। सभी के लिए समान शिक्षा हो। सीखने में स्वावलम्बन हो।

(v) धार्मिक संकीर्णता के स्थान पर धर्मनिरपेक्षता हों।

(vi) मानवीय गरिमा व अधिकार और दूसरों के प्रति आदर हों।

(vii) आत्मनिर्भर बनने की परिस्थितियां हों, विचार व कर्म की आजादी हों।

(viii) दूसरों के प्रति संवेदनशीलता व कल्याण का भाव हो।

यदि आप ध्यान से देखें तो यह सारी विशेषताएं एक लोकतांत्रिक समाज की है। अतः हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्ति के अनुसार यदि किसी समाज में जी सकता है तो वह एक लोकतांत्रिक समाज है।

समाज में शिक्षा के उददेश्य व शिक्षण सामग्री एवं प्रक्रियाएँ क्या हों?

आज का मानव इस परिवेश में सुरक्षा और संतुष्टि चाहता है। अब मानव के लिए जीवन, मात्र जीवित रहना नहीं, एक समाज में संतोषपूर्ण तरीके से जीना बन गया है। यहां तक कि इच्छित स्थिति की प्राप्ति न होने पर जानबूझ कर जीवन त्याग भी किया जाता है। दूसरों के लिए संतोषपूर्ण स्थिति बनाने के लिए भी अपने जीवन का त्याग इस समाज में संभव व आवश्यक होता है। आज के मानव को इस समाज में चलने वाले विभिन्न क्रियाकलापों में हिस्सेदारी करनी पड़ती है।

पर इन क्रियाकलापों में ठीक से हिस्सेदारी निभाने के लिए इस संपूर्ण परिवेश की विस्तृत व गहरी समझ तथा बहुत से कौशल आवश्यक है। इनके बिना कोई भी मानव इस सांस्कृतिक/सामाजिक व्यापार में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता। पर ये कौशल और यह समझ मानव में जन्मजात नहीं होती। कुछ बीजरुपी क्षमतायें ही जन्मजात होती है। उन्हीं क्षमताओं को विकसित करके समझ और कौशलों का विकास किया जाता है। यही सीखना है।

इस जटिल और विभिन्न क्रियाकलापों वाले समाज के नियमन की भी आवश्यकता होती है। समाज के सदस्यों के आपसी व्यवहारों का नियमन, क्रियाकलापों के तरीकों का नियमन आदि सभी कुछ आवश्यक है। यह नियमन किन आधारों पर हो? कौन तय करे? सभी मानवों ने मिलकर इस सामाजिक– सांस्कृतिक जगत का निर्माण किया है। सभी इसमें सतत् योगदान दे रहे हैं। सभी में जीवन की सुरक्षा और संतोष प्राप्ति की प्रवृति समान रुप से है तो कोई एक या कुछ ही नियंता क्यों हों। सभी को नियंता व सभी को नियंत्रित होना पड़ेगा। हम कह सकते है कि यही मानवीय समता का सिद्धान्त है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वर्तमान मानवीय समाज के अर्न्तगत सक्रिय भूमिका निभाने में नियंत्रण की भूमिका शामिल है तो समझ का महत्व और भी बढ़ जाता है। बहुत सी स्थितियों में चुनाव व उचित चुनाव के प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यह सब मांग करते हैं विवेक (reason)की। हम कह सकते हैं नियमन का दूसरा आधार है विवेक।

इस विश्लेषण को स्वीकार करें तो हम निम्नलिखित कुछ बातें कह सकते हैं :

(क) मानव की दो जन्मजात प्रवृतियां महत्वपूर्ण है। उन्हें हम कुछ हद तक तराश तो सकते हैं पर मिटाना ना तो संभव है और ना ही वांछनीय। अतः उन्हें मानव के दो मूल अधिकारों के रुप में स्वीकार कर सकते हैं।

1. जीवन की सुरक्षा की प्रवृति तथा
2. जीवन में संतोषजनक स्थिति बनाने की प्रवृति।

(ख) मानव एक समाज में ही रह सकता है। आज के समाज में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए निम्न क्षमतायें होनी आवश्यक है :

1. समझ
2. कौशल

(ग) मानवीय समाज के नियमन तथा उसके स्वरुप के निर्धारण आदि के लिये दो मूल आधार स्वीकार किये जा सकते है :

1. विवेक
2. मानवीय समता।

(घ) मानव शिशु में समझ और कौशल जन्म से ही उस स्तर तक नहीं होते जितने की समाज में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए आवश्यकता होती है पर कुछ जन्मजात क्षमतायें होती है जिनके आधार पर समझ और कौशलों का आवश्यक स्तर तक विकास संभव किया जा सकता है।

अब हम कह सकते हैं कि शिक्षा का व्यापक उद्देश्य शिक्षार्थी की ऐसी क्षमताओं के विकास को सुनिश्चित करना होना चाहिये जिनसे वह सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक जगत में स्वनिर्देशित, उत्तरदायित्वपूर्ण तथा प्रभावी ढंग से विचार व कर्म कर सके।

शिक्षा के व्यापक उद्देश्य वास्तव में वह आधार होते हैं जिनसे उद्देश्यों की एक पूरी श्रृंखला निकलती है। और इसलिये इनसे संबंधित वक्तव्यों में बहुत कुछ ठूंसा हुआ होता है। साथ ही वे अपने नाम के अनुसार इतने व्यापक होते हैं कि अस्पष्ट से लगने लगते हैं। बहुत से लोग तो इन्हीं कारणों से व्यापक उद्देश्यों के वक्तव्यों से बचने का प्रयत्न करते हैं पर कुछ उन का लोभ संवरण नही कर पाते। यहां यही स्थिति है। यदि दिये गये व्यापक उद्देश्य संबंधी वक्तव्यों का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाये अतः आगे के कुछ अनुच्छेदों में यही प्रयास किया गया है।

व्यापक उद्देश्य संबंधी उपरोक्त वक्तव्यों को हम छोटे टुकड़ों में तोड़ कर कुछ इस प्रकार देख सकते हैं:

1. शिक्षा का उद्देश्य किन्ही क्षमताओं के विकास को सुनिशचित करना होना चाहिये।
2. ये क्षमतायें सांस्कृतिक–सामाजिक व भौतिक जगत में कर्म करने तथा इनके बारे में विचार करने में सहायक होनी चाहिये।
3. ये क्षमतायें ऐसी होनी चाहिये जो बिन्दु दो में इंगित कर्म व विचार करने में व्यक्ति को स्वर्निशित बनाये।
4. जो उसके कर्म व विचार को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाये तथा
5. जो उसके कर्म व विचार को प्रभावी बनाये।

इन सभी बिन्दुओं पर संक्षेप में कुछ विचार कर लें तो बात साफ हो जायेगी।

1. पहला बिन्दु यह है कि शिक्षा का उद्देश्य क्षमताओं का विकास करना होना चाहिये। अर्थात् वे क्रियाकलाप जो किसी भी क्षमता के विकास में सहायक न हो और ना ही क्षमताओं के विकास के लिए आवश्यक वातावरण बनाने में सहायक हो, शैक्षणिक क्रियाकलाप नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए बालकों को बिना काम किये चुपचाप कतारों में बैठा करके रखना शैक्षणिक क्रियाकलाप नहीं है। साथ ही शिक्षा का उद्देश्य केवल क्षमताओं के विकास का प्रयत्न करना नहीं होना चाहिये, बल्कि क्षमताओं के विकास को सुनिश्चित करना होना चाहिये। यह ठीक है कि शिक्षक केवल प्रयत्न ही कर सकता है। पर सफलता–असफलता के आंकलन में "प्रयत्न किया गया तो ठीक है" कि स्थिति नहीं होनी चाहिये।
2. दूसरी बात यह है कि शिक्षा के द्वारा विकसित की जाने वाली क्षमतायें वे है जो या तो कर्म में सहायक हो या फिर विचार करने में सहायक हो। यहां यह कहा जा सकता है कि यह तो 'क्षमता' कह देने में ही निहित ही है। क्षमता का अर्थ ही कुछ करने के सामर्थ्य होता है। फिर कर्म और विचार में सहायक होने की शर्त अलग से लगाने की आवश्यकता ही क्या है? वास्तव में यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम कर्म से क्या समझते है? पर यहां इसके विस्तार में न जा कर इसे शिक्षाक्रम निर्माण के वक्त काम में लेने के लिए छोड़ देना ठीक रहेगा।

   भौतिक जगत में कर्म करने से अर्थ है उत्पादन, निर्माण, वस्तुओं के विस्थापन–वितरण आदि क्रियाकलापों में सक्रिय होना। सांस्कृतिक जगत में विचार और कर्म एक–दूसरे के सर्वाधिक निकट आ

जाते हैं। अधिकतर विचार करना व उसकी अभिव्यक्ति मात्र ही सांस्कृतिक जगत में कर्म होता है। सामाजिक जगत में कर्म लोगों से रिश्ते बनाने से लेकर समाज के स्वरुप के बनाने व उसके बारे में निर्णय प्रक्रिया में भागीदरी निभाने तक सभी कुछ है।

स्पष्ट रूप से यहां समग्र मानवीय क्षमताओं को समेटने का और शिक्षार्थी के कर्म व विचार की भूमि के विस्तार की एक झलक देने का प्रयासकिया गया है। जिससे शिक्षा से विकसित की जाने वाली क्षमतायें किसी संकुचित दायरे में न बंध जाये।

3. तीसरी बात है विकसित की जाने वाली क्षमताओं का ऐसी होना जो विचार और कर्म के स्वनिर्देशित होने में सहायक हो। स्वनिर्देशित यानि स्व–विवेक–निर्देशित। स्व–विवेक निर्देशित होने में स्पष्ट तौर पर दो बातें दिखाई देती है। एक, कि कर्म व विचार, कर्ता से बाहर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संचालित न हो। तथा दो, वे मात्र संयोगिक व अनियंत्रित ना हो, उनके पीछे विवेक का आधार हो। यदि मैं कोई काम किसी दूसरे के प्रभाव, भय, अतार्किक आकर्षण या भावनात्मक रुप से अभिभूत होकर करता हूं तथा मैंने उस के करणीय–अकरणीय होने के बारे में स्वयं अपने विवेक के अनुसार विवेचन नहीं किया है तो यह कर्म स्वनिर्देशित नहीं होगा। दूसरी बात, यदि मेरी मूलभूत मान्यतायें, जिनके आधार पर मैं उचित–अनुचित के निर्णय करता हूं समझ–बूझ कर, विवेचन करके स्वीकार की हुई नहीं है बल्कि अन्य प्रयत्नों से– अनुबंधन (conditioning) से या अविचारित रुप से मन में स्थापित (indoctrination) करने से– ग्रहण की हुई है तो भी मैं कर्म और विचार में स्वनिर्देशित नहीं रह सकता। यहां न तो दूसरों से सीखने का विरोध और ना ही दूसरों से विचार ग्रहण करने का विरोध है। बस मात्र एक शर्त जोड़ी गई है कि मान्यताओं की स्वीकृति व कर्म का चुनाव विवेक पर आधारित हो। विवेक से इतर जो अन्य कारण है, चाहे वे मेरे बाहर से हों या मेरे भीतर से, उन्हें अधिकाधिक विवेक के आधीन करने की बात है। जिस प्रकार दूसरों का प्रभाव मुझे विवेक के विरुद्ध आचरण के लिए विवश कर सकता है, वैसे ही मेरी अनियंत्रित इच्छायें, कामनायें, विद्वेश आदि भावनायें भी मुझे विवेक के विरुद्ध आचरण करने के लिये विवश कर सकती है। स्वविवेक–निर्देशित होने का अर्थ है इन सभी प्रवृतियों को नियंत्रण में रखना।

पर एक तो हम मानव है, दूसरे, अपनी क्षमतायें अन्य मानवों की मदद से प्राप्त करते हैं। अतः दूसरों के प्रभाव व अपनी कामनाओं/भावनाओं से पूर्णतया स्वतंत्र हम कभी नहीं हो सकते। अतः बात स्वनिर्देशन की क्षमता को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाने की है। साथ ही एक न्यूनतम स्तर के ऊपर पहुंच जाने की है। स्वनिर्देशन की शर्त मानवीय समता के सिद्धांत से सीधी निर्गमित है। जब सभी समान हैं तो किसी दूसरे को मुझे निर्देशित करने का अधिकार नहीं है तथा अपने आप को प्रभावों से मुक्त रखना मेरा कर्तव्य है।

4. चौथी बात यह है कि शिक्षा द्वारा विकसित की जाने वाली क्षमतायें ऐसी हों जो व्यक्ति को कर्म व विचार को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाये। यह वास्तव में स्वनिर्देशन की पूरक शर्त है। यह पहले ही कह चुके हैं कि स्वनिर्देशन का अर्थ नियंत्रित कर्म व चिंतन नहीं है। यहां अपने विचार व कर्म के प्रति जिम्मेदार होने की बात है। इस जिम्मेदारी के भी दो पहलू हो सकते हैं। एक, अपने कर्मों के सभी प्रभावों को सहन व स्वीकार करने की जिम्मेदारी तथा दूसरा, जिन कर्मों का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है उनको, उभयनिष्ठ रुप से स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर उचित सिद्ध करने की जिम्मेदारी।

तीसरे और चौथे दोनों बिन्दुओं को मिला कर हम कह सकते हैं कि शिक्षा अपने विचार व कर्म को स्वनिर्देशित तथा उनके लिए जिम्मेदार होने की क्षमताओं के विकास का प्रयत्न करती है। इसे स्वयत्ता व जिम्मेदारी भी कह सकते हैं।

5. पांचवी बात है कर्मों व विचारों को प्रभावी बनाने वाली क्षमताओं की। जहां तक कर्म का सवाल है, उसका कोई ना कोई प्रभाव तो पड़ेगा ही। प्रभाव हुए बिना तो कर्म होगा ही नहीं। पर यहां 'प्रभावी–कर्म' का अर्थ कुछ भिन्न है। कर्म किसी उद्देश्य को लेकर किया जाता है। यहां प्रभावी होने से अर्थ है कर्म का वह प्रभाव जो उद्देश्य की प्राप्ति के नजदीक ले जाये। यदि कर्म करने के बाद भी उद्देश्य प्राप्ति की स्थिति कर्म करने से पहले की सिथति में ही रहती है या उससे बदतर हो जाती है तो इस अर्थ में प्रभावी कर्म नहीं हुआ है। सर्दी के दिनों में कमरे को गर्म करने के लिए पंखा चला देना प्रभावी कर्म नहीं है, हीटर चला देना प्रभावी कर्म है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वे कौनसी क्षमतायें हैं जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है? ऊपर दिये गये अब तक के स्पष्टीकरण में तथा उससे पूर्ववर्ती भाग में भी ऐसे बहुत से संकेत है जो इस प्रश्न का उत्तर देने में सहायक हो सकते हैं।

हमने यह माना है कि व्यक्ति को कर्म में प्रवृत करने वाली दो मूल चीजें हैं : जीवन की सुरक्षा और संतोषजनक स्थिति के निर्माण की चाह। हमने यह भी माना है कि उसे यह प्रयत्न मानवीय समाज में ही करने होंगे। इन प्रयत्नों में किये कर्मों के लिए वह उत्तरदायी होगा तथा कर्म करने में उसे स्वनिर्देशित भी रहना होगा।

बहुत–सी चीजें एक साथ इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि जिस जगत में व्यक्ति कर्म करेगा उसकी उसे समझ होनी चाहिये। यह जगत क्या है? कैसे संचालित होता है? किन परिस्थितियों में किन कर्मों के क्या परिणाम होते हैं? साथ ही उसके कर्मों का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ेगा। उन दूसरों को भी अपने जीवन की सुरक्षा व अपने लिए संतोषपूर्ण स्थितियों के निर्माण का उतना ही अधिकार है जितना हमारे कर्ता को। अतः उसे अपने कर्म मात्र प्रभाविता से नही औचित्य–अनौचित्य के मानदण्ड़ों से भी संचालित करने होंगे। इस सारी पृष्ठभूमि में स्पष्ट ही समझ का विकास एक आवश्यक शर्त बन जाती है।

दूसरी तरफ कर्म की प्रभाविता भी एक तो समझ (भौतिक जगत की तथा लोगों के मानस की) पर निर्भर करती है तथा दूसरे पदार्थ को व यंत्रों को अपने अंगों–विशेष रुप से हाथों से संचालन की कुशलता पर। इसे हम कौशल कह सकते हैं।

अतः हम शिक्षा के द्वारा विकसित की जाने वाली क्षमताओं को नाम देना चाहें तो कह सकते हैं कि वे समझ व कौशल है। समझ में ज्ञान, जानकारी, नैतिक मूल्य तथा सौंदर्य संबंधी मूल्य समाहित है। इस पर विस्तृत विचार आगे करेंगे। कौशलों पर भी आगे विस्तृत विचार करेंगे पर मूलतः सभी दक्षताओं को इनमें समाहित मान रहें हैं।

ऊपर हमने शिक्षा के व्यापक उद्देश्य क्या होने चाहिये लिखा है, वहां व्यक्ति से अपेक्षाओं के रुप में लिखा गया है। उस व्यक्ति में जो क्षमतायें होनी चाहिये, उनकी शब्दावली में पुनकर्थन करें तो शिक्षा का व्यापक उद्देश्य होना चाहिये– **समझ तथा कौशलों का विकास।**

इकाई – 4
भारतीय शिक्षा चिंतक

अब तक के अध्यायों में हमने शिक्षा से संबंधित सैद्धांतिक पक्षों पर विचार किया है। इनमें हमने व्यक्ति की धारणा और समाज, आधुनिक लोकतंत्र में व्यक्ति की धारणा और समाज, परम्परा कानून और नैतिकता और सौंदर्य बोध जैसे सैद्धांतिक पक्षों पर विचार किया। कोई भी सिद्धांत किस तरह गढ़े जाते हैं और विकसित होते हैं उसमें विभिन्न चिंतकों का अपनी तरह का योगदान होता है। शिक्षा के संदर्भ में विचार करते हुए यह सभी सैद्धांतिक पक्ष इसलिए महत्वपूर्ण हो जाते हैं कि कोई भी शिक्षा व्यवस्था मूलतः वह किस तरह के व्यक्ति और समाज की परिकल्पना करती है उसी को ध्यान में रखते हुए विकसित होती है। भारत में आधुनिक शिक्षा पद्धति की शुरुआत मूलतः अंग्रेजों के द्वारा आरोपित शिक्षा व्यवस्था के रूप में हुई। इस शिक्षा व्यवस्था की शुरुआत से ही भारतीय चिंतकों में इसे लेकर एक तरह का असंतोष बना हुआ था। ऐसा नहीं था कि भारतीय चिंतक अपने शिक्षा संबंधी विचारों की इस शिक्षा व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप ही व्यक्त कर रहे हों, बल्कि अपनी देश, काल परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इन सभी के मन में आदर्श शिक्षा व्यवस्था की कोई न कोई परिकल्पना पहले से मौजूद थी।

अंग्रेजों ने 1835 में मैकाले के शिक्षा के प्रस्ताव को भारत में स्वीकार कर लिया था। इस प्रस्ताव में साफ तौर पर इस बात का उल्लेख था कि ''हम भारत में ऐसे व्यक्तियों के वर्ग का निर्माण करना चाहते हैं जो रंग और रक्त में भले भारतीय हों, पर खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार तथा बुद्धि में पूरे अंग्रेज हों।'' मैकाले का वक्तव्य इस बात का प्रमाण है कि व्यवस्था किस तरह शिक्षा को अपने हितों को साधने के लिए उपकरण की तरह इस्तेमाल करती है। लेकिन भारतीय चिंतक इसके पहले से भारत में शिक्षा व्यवस्था कैसी होनी चाहिए इस पर विचार भी कर रहे थे और कई तरह के प्रयोग भी शिक्षा के क्षेत्र में जारी थे। मैकाले के प्रस्तावों के प्रति एक तरह का अस्वीकार भी ज्यादातर भारतीय शिक्षा चिंतकों के विचारों में देखने को मिलता है। भारतीय शिक्षा चिंतकों के सामने व्यक्ति और समाज की अपनी अवधारणाएं थीं और वे भारतीय समाज की जिस रूप में परिकल्पना करते थे, इसकी झलक उनके शैक्षिक प्रयोगों में देखी जा सकती है। यहां हम स्वामी विवेकानंद ,महात्मागांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महर्षि अरविंद के शिक्षा संबंधी विचारों को जानने समझने की कोशिश करेंगे। हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि वे कौन सी परिस्थितियां थीं जिनमें इन चिंतकों के विचार आकार ले रहे थे? उनके शैक्षिक चिंतन के पीछे उनकी व्यक्ति और समाज के बारे में क्या अवधारणाएं थीं? वे शिक्षा की भूमिका और उद्देश्यों को किस तरह देखते और समझते थे? शिक्षक, शिक्षण सामग्री और शैक्षणिक प्रक्रियाओं को उन्होंने किस रूप में समझा? भाषा और औद्योगिकरण जैसे मसलों पर इन चिंतकों के विचारों की भी हम पड़ताल करेंगे।

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर

(7 मई 1861– 1941)

हम सभी रवीन्द्रनाथ टैगोर को एक कवि, कलाकार या नोबल पुरस्कार विजेता के तौर पर जानते हैं। संभव है हमने बहुत सी कहानियां और उपन्यास पढ़े हों या उनका जिक्र सुना हो। उनके शांतिनिकेतन के बारे में भी सुना या पढ़ा हो। रविंन्द्र नाथ की पारिवारिक पृष्ठभूमि सम्पन्न जमींदारों की रही और स्वयं उन्होंने कभी व्यवस्थित ढंग से औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की। एक सवाल यह आता है कि एक कवि होते हुए उन्हें एक स्कूल चलाने या शिक्षा पर विचार करने की जरूरत क्यों पड़ी ? क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों हुआ होगा ?

इस सवाल का जवाब टैगोर स्वयं इस तरह देते हैं ''आप लोगों में से कुछ लोग शायद यह जानते होंगे कि तेरह वर्ष का होने के बाद मैंने शायद ही किसी शैक्षणिक संस्थान में कदम रखा हो। हां, कवि के रूप में ख्याति प्राप्त करने के बाद और व्याख्यान देने के लिए बुलाए जाने पर ऐसा जरूर हुआ है। .... जब मैं बच्चा था, तभी मुझे शिक्षा की खामियों का शिद्दत से अहसास करा दिया गया था। इस कारण स्कूल मुझ से दूर होता गया और जब मैं बड़ा हुआ तब मुझे ऐसी शिक्षण संस्था की स्थापना का निर्णय लेना पड़ा जहां वे खामियां न हों जिनसे मैं बचपन में त्रस्त रहा।''

वे कौन सी कमियां थीं जिनसे टैगोर बचपन में त्रस्त अनुभव करते थे? जिन्होंने उन्हें इतना विचलित किया कि एक वयस्क के रूप में उन्हें स्वयं शिक्षण संस्था स्थापित करने के लिए प्रेरित किया? इस संबंध में वे लिखते हैं 'जब लगभग पांच वर्ष की उम्र में सकूल जाने के लिए मुझ पर दबाव डाला गया था तो मेरा हृदय बगावत कर उठा, ऐसी व्यवस्था के प्रति जिसमें जिंदगी के रंग लेशमात्र भी न थे, जीवन की चपलता न थी, जहां पढ़ाए जाने वाले पाठ का परिवेश से कोई संबंध न था। और जहां मुझे उस आनंदलोक से निर्वासित कर लाया गया था, जिसमें मेरा जन्म हुआ था, जहां प्रकृति की हर चीज सुंदर थी।'

जाहिर है कि टैगोर के शिक्षा संबंधी विचारों पर उनके बचपन के अनुभवों का गहरा असर पड़ा। एक कवि और कलाकार के रूप में उन्होंने जब शिक्षा पर विचार किया तो उनमें किन बातों को अनिवार्यतः शामिल किया ? उनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थान किन अर्थों में पहले से प्रचलित स्कूलों से अलग था? टैगोर शिक्षा का उद्देश्य क्या मानते थे ? उनकी व्यक्ति और समाज के बारे में क्या अवधारणा थी ? ऐसे व्यक्ति और समाज के निर्माण में शिक्षा की क्या भूमिका हो सकती है ? टैगोर उस समय प्रचलित शिक्षा व्यवस्था को किस तरह देखते थे ? वे किस तरह की शिक्षा व्यवस्था सुझाना चाहते थे ? ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर हम इस अध्याय में चर्चा करेंगे। उनका संक्षित जीवन परिचय भी संभवतः इन प्रश्नों के जवाब तलाशने में हमारी मदद करेगा।

जीवन

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई 1861 को बंगाल के सम्पन्न जमीदारों के परिवार में हुआ। राजा राम मोहन राय के ब्रह्म समाज आंदोलन का उनके पिता देवेन्द्र नाथ टैगोर पर गहरा असर था। उन्होंने

1863 में बह्म समाज के प्रचार प्रसार में योगदान के इरादे से कलकत्ता से करीब सौ मील दूर शांतिनिकेतन नामक स्थान पर एक आश्रम के लिए जमीन खरीदी। इसी जमीन पर आगे चल कर टैगोर ने अपने प्रसिद्ध विद्यालय शांति निकेतन की स्थापना की।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता बंगाली समाज में तत्कालीन नवजागरण का समर्थन करने वालों में एक प्रमुख व्यक्ति थे। रवीन्द्रनाथ अपने माता–पिता की चौदहवीं संतान थे। रवीन्द्रनाथ के जन्म के समय बंगाल बदलाव के दौर से गुजर रहा था। ईवश्र चंद्र विद्यासागर समाज में महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने की दिशा में प्रयत्नशील थे। परम्परागत संस्कृत पढ़ाने वाली पाठशालाओं के साथ ही साथ अंग्रेजी माध्यम स्कूलों की भी शुरुआत हो रही थी। विद्यासागर ने बंगाली माध्यम स्कूल की भी स्थापना की जिसके लिए सरकार से उन्हें थोड़ा–बहुत सहयोग मिला। उन्होंने इन विद्यालयों के लिए शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय की भी स्थापना की। रवीन्द्रनाथ ने इस विद्यालय में पढ़ाई की और अपने बांग्ला भाषा के प्रति प्रेम का श्रेय वे इसी स्कूल को देते थे। उन्हें अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में भी पढ़ने के लिए भेजा गया, लेकिन उन्हें कभी वहां का वातावरण पसंद नहीं आया। वे विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ना नहीं चाहते थे।

चौदह वर्ष की उम्र तक आते–आते उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया और आगे की शिक्षा उन्होंने घर में ही अर्जित की। उन्हें अलग–अलग विषयों के शिक्षक घर पर ही पढ़ाने आते। टैगोर अपने बचपन के उस अनुभव को याद करते हुए कहते हैं 'प्रातःकाल से रात्रि होने तक पढ़ाई और सीखने का क्रम एक यंत्र की तरह चलता रहता था। .... उन्होंने हमारे मस्तिष्क को जिन चीजों से भरने की कोशिश की थी, वे सब नाव में भरे सामान की तरह खिसक कर नीचे समुद्र की तली में जा गिरे। इस प्रकार के सीखने से मुझे किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं हुआ।' टैगोर को सुबह से रात तक कई शिक्षक अलग–अलग विषय पढ़ाने के लिए घर आते थे। जीवन के आरंभिक वर्षों में हुई इस शिक्षा ने टैगोर पर गहरा असर डाला। एक और बात ने भी उन पर बहुत गहरा असर डाला। वे जब 12 वर्ष के थे तब उनके पिता उन्हें अपने साथ शांति निकेतन ले कर गए। इस प्रवास के दौरान देवेन्द्र नाथ उनके साथ संस्कृत, ज्योतिष और साहित्य के बारे में बातचीत करते और इसके बाद उन्हें पूरी आजादी होती कि वे आस–पास के नजारों को देखें, पहाड़ों और जंगलों में घूम आएं। यह प्रवास हिमालय की तलहटी में बसे डलहौजी तक जारी रहा। कलकत्ता में प्रकृति को इतने निकट से देखने का अवसर नहीं मिलता था और पिता के साथ विभिन्न विषयों पर इस तरह आत्मीयता के साथ बातचीत का भी मौका नहीं मिलता था। बचपन का यह अनुभव जिसमें एक उत्सुक विद्यार्थी पिता के आत्मीय सान्निध्य में जीवन की शिक्षा प्राप्त कर रहा था, ही संभवतः टैगोर के शांतिनिकेतन में विद्यालय स्थापित करने के पीछे मूल प्रेरणा स्रोत रहा।

सत्रह वर्ष की उम्र में 1878 में रवीन्द्रनाथ को उनके पिता ने वकालत या भारतीय प्रशासनिक सेवा की पढ़ाई करने के लिए लंदन भेज दिया। यहां उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के प्रति उनका रुझान बढ़ा और अंग्रेजों की जीवन शैली से उनका परिचय हुआ। वे पढ़ाई अधूरी छोड़ डेढ साल में ही वापस आ गए। भारत लौटने के बाद उन्होंने अपना स्वाध्याय, लेखन और संगीत जारी रखा। 1882 से 1890 के दौरान उनके कई कविता संग्रह प्रकाशित हुए और उनके संगीत के भी वोल्यूम प्रकाशित होने लगे।

तेईस वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ और इसी दौरान वे अपनी पिता की धार्मिक जिम्मेदारियों के निर्वाह में भी सहयोग करने लगे। वर्ष 1890 में वे दूसरी बार इंग्लैंड गए, लेकिन एक माह बाद ही अपनी पारिवारिक संपत्ति के देखरेख के लिए लौट आए। नई जिम्मेदारियों ने उनके लेखन को नया आयाम दिया। किसानों की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों को देखकर टैगोर बहुत व्यथित होते । उन्होंने लिखा, 'हमारे तथाकथित जिम्मेदार लोग तब तक चैन से रह सकते हैं जब तक कि आम आदमी अपनी स्थिति को समझने नहीं लगता है। इसीलिए जमींदार उसे मारता है। साहूकार उसे अपने पंजों में जकड़ कर रखता है; हरकारा उसे गाली देता है; पुलिसवाला उसे धमकाता है; पुजारी उसका शोषण करता है और मजिस्ट्रेट उसकी जेब काटने पर आमादा रहता है।' उनका मानना था कि इन हालात को जमीदार, साहुकार या पुलिस वालों की धार्मिक भावनाओं को जाग्रत कर नहीं बदला जा सकता। इसलिए पहली जरूरत इस बात की है कि लोग यह समझें कि वह चीज क्या है जो उन्हें समाज में एक–दूसरे से जोड़ती है।

अपने परिवार की जागीर को संभालते हुए टैगोर को इस बात का अहसास हुआ कि ग्रामीण समाज को बदलने में शिक्षा और सहभागिता कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इस कारण उन्होंने शिक्षा से जुड़ी समस्याओं की ओर ध्यान देना शुरू किया। शिक्षा में परिवर्तनशीलता पर बोलते हुए उन्होंने मातृभाषा के प्रयोग पर जोर दिया। उन्होंने अपनी जागीर के मुख्यालय सियालदह में एक स्कूल शुरू किया, जिसमें अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अंग्रेज शिक्षकों सहित विभिन्न विषयों के अध्यापन के लिए अलग–अलग शिक्षक रखे गए। टैगोर ने खुद अपने बच्चों को भी इस स्कूल में भेजा। उन्होंने अपने क्षेत्र में सहकारी विद्यालय और अस्पताल खोलने शुरू किए, जिनमें खेती में सुधार के तरीकों के बारे में भी पढ़ाया जाता। अपना लेखन जारी रखते हुए उन्होंने ग्रामीण पुनर्निर्माण के इन तमाम प्रयासों पर भी ध्यान दिया। टैगोर इस समय को सक्रिय सामाजिक जीवन के लिए तैयारी, सोचने–विचारने और स्वाध्याय का समय मानते हैं जिसे उन्होंने साधना का नाम दिया। इस दौरान वे सियालदह में ही पद्मा नदी पर अपने हाउसबोट में रहते, गांवों में जाकर लोगों से उनकी समस्याओं के बारे में बात करते। उनके आगे के शिक्षा के प्रयोगों की शुरुआत यहीं से हुई।

वर्ष 1901 में टैगोर ने सियालदह छोड़ दिया और पिता की सहमति से शांतिनिकेतन में आवासीय विद्यालय स्थापित किया। अपने बेटे सहित गिने–चुने छात्रों के साथ 22 दिसंबर 1901 को उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की। इस आश्रम में जितने बच्चे थे, उतनी ही संख्या शिक्षकों की भी थी। इसके पीछे विचार यह था कि बच्चे और शिक्षक प्राकृतिक वातावरण में साथ–साथ रहें और एक आडंबरहीन जीवन को साथ–साथ अपनाएं, जिसमें वे खुद अपने हाथों से काम करें। विद्यालय में छात्रों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था और सारे खर्चों का वहन टैगोर स्वयं करते थे। कवि की ख्याति बढ़ने के साथ स्कूल का भी विस्तार होने लगा। शांति निकेतन के जीवन का टैगोर के लेखन पर भी असर पड़ा। वे उस आंतरिक भारत की खोज में जुटे थे जो तमाम विविधताओं के बावजूद एक सूत्र में बंधा था।

टैगोर 1912 में एक बार फिर इंग्लैंड गए। उनकी कुछ कविताएं तथा अन्य साहित्य अंग्रेजी में पहले ही अनूदित हो चुका था जिसने प्रसिद्ध चित्रकार सर विलियम रोथेंस्टीन और कवि डब्ल्यू.बी. यीट्स का

ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। ब्रिटिश लेखकों और बुद्धिजीवियों पर उनकी ऐसी छाप पड़ी कि उन्हें एक कवि और बुद्धिजीवी के रूप में हाथों–हाथ लिया जाने लगा। नवम्बर 1913 में उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया और वे अमेरिका होते हुए भारत लौटे। वे 1916 में फिर जापान और अमेरिका गए, जहां उन्होंने कई जगह भाषण दिए जिन्हें बाद में *राष्ट्रवाद* और *व्यक्तित्व* शीर्षकों के तहत प्रकाशित किया गया। इन अंतरराष्ट्रीय अनुभवों से उनके मन में यह विचार आया कि उन्हें अपने देश को भी विश्व के संपर्क में लाना चाहिए। उन्हें यह अहसास हुआ कि संकीण राष्ट्रवाद ने देशों के बीच संघर्ष की स्थितियां पैदा की हैं। उन्होंने एक ऐसी संस्था की जरूरत महसूस की जो विश्व की संस्कृतियों और ज्ञान की धाराओं को एक सूत्र में पिरो सके। उन्होंने शांतिनिकेतन में ऐसा संस्थान बनने की संभावना को देखा। इस तरह उन्होंने 24 दिसम्बर 1918 को विश्व भारती की स्थापना की। श्री निकेतन नामक एक अन्य संस्था की स्थापना उन्होंने 1921 में की।

भारत की शैक्षिक पृष्ठभूमि

कोई भी विचार किस समय में पैदा होता है उसकी उस विचार के बनने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर जिस समय में शिक्षा के प्रश्नों से जूझ रहे थे उस समय देश के हालात क्या थे? क्या देश में कोई शिक्षा नीति उस समय तक लागू की जा चुकी थी? क्या वह शिक्षा नीति देश के आम आदमी की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए विकसित की गई थी? तत्कालीन राजनीतिक–सामाजिक परिस्थितियों में टैगोर के मन में वे क्या प्रश्न थे जिन्होंने उन्हें शिक्षा पर सोचने और स्वयं शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करने के लिए विवश किया?

रवीन्द्रनाथ टैगोर के जन्म से पहले भारत में अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी जिसका मकसद भारत में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ऐसे शिक्षित समुदाय को तैयार करना था जो अपने रंग और नस्ल से भारतीय हों, लेकिन जिनकी सोच अंग्रेजों की तरह हो। परिणामस्वरूप परम्परागत ग्रामीण, संस्कृत और उर्दू पाठशालाओं और मदरसों की व्यवस्था को झटका लगा। बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई जो गिने–चुने संभ्रांत लोगों के गढ़ थे। चुनिंदा संपन्न लोगों और व्यापक ग्रामीण जन सामान्य के बीच की खाई गहरी होती जा रही थी। देश में व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक बदलाव घटित हो रहे थे, खासतौर से कलकत्ता जैसे महानगरों में, जिनका आकार भी फैलता जा रहा था। रेल की पटरियां बिछाई जा रही थीं, फैक्ट्रियां बनाई जा रही थीं और नगर पालिका के माध्यम से जलापूर्ति की व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। एक तबका यूरोपीय रहन–सहन और पहनावे को अपनाने लग गया था। पुराने मूल्यों और परम्पराओं पर लोग सवाल उठाने लगे थे। भारत में यह सामाजिक सुधार और बदलाव का दौर था। उन्नीसवी शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत के करीब आते–आते वह भारतीय मध्यमवर्ग जो नए विश्वविद्यालयों के समर्थन में था वहीं अंग्रेजों की नई शिक्षा नीति और अंग्रेजी भाषा संबंधी नीति के विरोध में उठ खड़ा होने लगा। जबकि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब अंग्रेज इस शिक्षा नीति को लेकर आए थे उस समय संपन्न तबके ने इसका खुल कर स्वागत किया था। लेकिन इसके नतीजों को देखते हुए और भारतीय ऐतिहासिक विरासत के बारे में जागरूकता बढ़ने के साथ ही भारतीय मध्य वर्ग ने इस शिक्षा का विरोध करना शुरू कर दिया। टैगोर भी नई शिक्षा व्यवस्था की तुलना में परम्परागत भारतीय शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे, लेकिन वे उसमें भी पर्याप्त बदलाव के साथ ही उसे अपनाने के हिमायती थे।

इसी दौरान भारतीयों में राष्ट्रवाद की भावना का भी उभार हो रहा था। भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के प्रति जागरूकता बढ़ने के साथ ही लोगों में पाश्चात्य की नकल की प्रवृत्ति के प्रति भी नाराजगी प्रकट होने लगी थी। टैगोर के उस समय के शिक्षा संबंधी तथा अन्य लेखों से भी इस असंतोष का पता चलता है। शिक्षा में सुधार के प्रति उनके चिंता 1901 से 1905 के दौरान गहरी होती चली गई। इस बीच परिवार में होने वाली एक के बाद एक होने वाली दुखद घटनाओं ने टैगोर को राष्ट्रवादी आंदोलन से विमुख कर दिया। वे अपने आश्रम स्कूल चले आए जहां उन्होंने सियालदेह में शुरू किए गांवों के पुनर्निर्माण के काम पर ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया।

टैगोर का शिक्षा दर्शन

टैगोर ने भी अपने शिक्षा संबंधित विचारों को व्यवस्थित रूप से किसी एक जगह दर्ज नहीं किया है। उनके विचारअलग–अलग लेखों और पत्र–पत्रिकाओं, भाषणों और व्याख्यानों और अलग–अलग व्यक्तियों को उस दौरान लिखे पत्रों में बिखरे हुए मिलते हैं। शांति निकेतन और श्री निकेतन के बारे में विदेशी समुदाय को बताते हुए भी उन्होंने कुछ लेख लिखे हैं। इधर के वर्षों में मूलतः बांग्ला में लिखे गए इन लेखों को संकलित करने के प्रयास भी हुए हैं। इन लेखों को मोट तौर तीन चरणों में देखा जा सकता है।

पहला चरण (1892–1901)

टैगोर शिक्षा के अभाव को भारत की प्रगति की राह में सबसे बड़ी बाधा और ज्यादातर समस्याओं की जड़ मानते थे। औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति उनके मन में गहरा असंतोष था। किसी भी उपयोगी शिक्षा नीति के लिए अनिवार्य उद्देश्यों जैसे रचनात्मकता, स्वतंत्रता, आनंद और देश की संस्कृति के बारे में जागरूकता जैसे लक्ष्यों की इसमें पूरी तरह उपेक्षा की गई थी। स्वतंत्रता को टैगोर बहुत अधिक महत्व देते हैं। वे तीन तरह की स्वतंत्रताओं का जिक्र करते हैं – मस्तिष्क की स्वतंत्रता, हृदय की स्वतंत्रता और इच्छा–तत्व की स्वतंत्रता और अपनी संस्था में उन्होंने बच्चों को यह तीनों प्रकार की स्वतंत्रता दी। तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं ' यदि हमारी शिक्षण संस्थाओं के कुछ घोषित उद्देश्य हैं, जैसे कि सभी बच्चों को देशभक्त, व्यावहारिक व्यक्ति, सैनिक या बैंककर्मी बनाना तो फिर यह जरूरी हो जाता है कि उन्हें आज्ञापालन और अनुशासन की कवायद करते हुए शिक्षित किया जाए, लेकिन इसमें न तो बहुआयामी जीवन की संपूर्णता होगी और न ही मानवीय मूल्यों की परिपूर्णता।'

दूसरा चरण (1901–18)

दूसरा चरण शिक्षा के क्षेत्र में टैगोर के अपने प्रयोगों की शुरुआत का दौर था। देश विदेश की यात्राओं के दौरान टैगोर यह जानने और मानने लगे थे कि मनुष्य का स्वभाव सब जगह एक जैसा होता है। यह वह समय था जब लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल विभाजन के विरोध में हुए स्वदेशी आंदोलन में टैगोर सहित उस वक्त के सभी बुद्धिजीवी भाग ले रहे थे। इस आंदोलन का मुख्य जोर राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था की स्थापना था।

इस दौर में टैगोर के शिक्षा चिंतन में राजनीतिक अंतर्वस्तु पर्याप्त मुखर है। शांतिनिकेतन में एक वैकल्पिक शिक्षा व्यवस्था के संस्थापक के रूप में उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। टैगोर का बंगाल विभाजन के विरोध में हुए स्वदेशी आंदोलन के राजनेताओं के साथ हालांकि सभी पहलुओं पर

तालमेल नहीं था, लेकिन अपने लेखों में उन्होंने तीन प्रमुख बातों पर जोर दिया – 1. उन्होंने कालेज शिक्षा को राष्ट्र जीवन से जोड़ने की जरूरत बताई; 2. शिक्षा के उपनिवेशीकरण के प्रसंग पर जोर देते हुए उन्होंने यह कहा कि 'स्कूली शिक्षा के जरिए विदेशी प्रभुत्व की स्थापना को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए समय आ गया है कि किसी भी तरह शिक्षा पर अपना नियंत्रण स्थापित किया जाए।' और 3. उन्होंने राष्ट्र की दिमागी मुक्ति के प्रयासों का स्वागत किया। वे अपने निबंध 'नेशनल स्कूल' में लिखते हैं 'मैं आज नवस्थापित नेशनल स्कूल का स्वागत करता हूं, अपने हृदय स्थित इस आशा के साथ कि हम अंग्रेजी भाषणों को मात्र दोहरा देने वाले या अंग्रेजी अध्यापकों के पिंजरे में कैद तोते न रह जाएंगे, इस आशा के साथ कि हम अपने आप को पूरी तरह वास्तवीकृत कर पाएंगे, वह जैसा भी हो, जैसे भी हो।' हालांकि वे राष्ट्रीय शिक्षा का विचार उनके मन के करीब था लेकिन उनके मन में उसे लेकर कुछ शंकाएं भी थीं। 1908 के बाद उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के माडल के आगे किसी उच्चतर आदर्श की ओर देखना शुरू कर दिया था। राष्ट्रीय शिक्षा में 'राष्ट्रीय' क्या है, इसकी स्पष्ट धारणा उनकी चिंता थी और इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने आश्रम की धारणा पेश की । इन संशयों से आगे बढ़ते हुए उन्होंने एक सच्ची भारतीय शिक्षा व्यवस्था के निर्माण की कार्यसूची को विस्तृत रूप दिया। उन्होंने 1908 से 1915 के बीच कई लेख लिख इस कार्य को अंजाम दिया जिनमें *तपोवन की धारणा, भारतीय व्यवस्था और यूरोपीय शिक्षा की तुलना, धार्मिक शिक्षा, स्त्री शिक्षा और शिक्षा के माध्यम* यह लेख शामिल थे।

राष्ट्रीय शिक्षा को लेकर मुख्यतः उनके मन में संदेह बौद्धिक दृष्टिकोण की संकीर्णता और नस्ली या सांप्रदायिक मानसिकता को लेकर थे। 'शिक्षा की किसी विशेष व्यवस्था को मात्र 'राष्ट्रीय' नाम दे देने से जीवित नहीं किया जा सकता। इस देश के विभिन्न लोगों के भिन्न–भिन्न दिशाओं में हो रहे प्रयासों से उत्पन्न शिक्षा की व्यवस्था ही 'राष्ट्रीय' कही जा सकती है।' उनका मानना था कि भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो अपनी सभ्यता के चारित्रिक सत्य की पड़ताल करने के लिए प्रेरित करे। यह सत्य व्यावसायिकता, साम्राज्यवाद या राष्ट्रवाद नहीं बल्कि सार्वभौमिकता है। इसका लक्ष्य सद्भावनापूर्ण अंतक्रिया और स्वभाव तथा वातावरण के बीच सामंजस्य के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है।

तीसरा चरण (1918–41)

टैगोर के मन में औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति गहरा असंतोष था। राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के विचार का भी वे कुछ दूर तक साथ देते हैं लेकिन उसे लेकर उनमें मन में अनेक शंकाएं थीं। यह दौर विश्वभारती की धारणा के ठोस रूप लेने का दौर था।

नोबेल पुरस्कार से सम्मानित होने के बाद दुनिया के दूसरे देशों की यात्राओं के दौरान अनेक बुद्धिजीवियों से जान–पहचान हुई। इसका असर यह हुआ कि वे पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के बीच सामंजस्य की राह तलाशने लगे। बच्चों की शिक्षा और ग्रामीण विकास के साथ ही अब उनका ध्यान उच्च शिक्षा की ओर भी जाने लगा और वे आस–पास के गांवों को विश्व विद्यालय के कार्यक्षेत्र के रूप में देखने लगे। वे शिक्षा का एक वैकल्पिक स्वरूप तलाश रहे थे। उनके लिए विकल्प की यह तलाश मौजूदा व्यवस्था में फेर–बदल तक सीमित नहीं थी बल्कि वे व्यवस्था में आमूल बदलाव लाना चाहते थे। वे अंग्रेजी

शिक्षा की औपनिवेशिक मानसिकता के साथ ही साथ भारतीयों की संकीर्ण देशभक्ति की भी आलोचना करते थे। 'देश में एक ऐसी संस्था की जरूरत है जहां ज्ञान का आदान–प्रदान और उसकी परस्पर तुलना हो सके, जहां संपूर्ण मानव जाति द्वारा अर्जित ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में रख कर भारत के ज्ञान को देखा और विश्लेषित किया जा सके। .... जो लोग दुनिया से अलग रख कर भारत को देखते हैं वे सच मुच भारत को नहीं समझते। इसी तरह जो लोग भारत की संपूर्णता की अनदेखी करके भारत के केवल एक हिस्से को देखते हैं, वे भी अपने दिमाग में भारतीय मानस को नहीं पकड़ पाते।' इस दौर में वे 'शांति निकेतन के स्कूल को भारत और बाकी दुनिया के बीच संपर्क की एक कड़ी बनाने' की जरूरत को महसूस करने लगे थे।

उनके सामने प्रश्न सिर्फ वैकल्पिक शिक्षा व्यवस्था खड़ी करने तक ही सीमित नहीं था, वे इस व्यवस्था की प्रक्रियाओं को ले कर भी पर्याप्त चिंतित थे। उनके सामने सवाल यह था कि शिक्षा को कैसे वास्तविक और हमारी जीवन शक्ति बनाया जाए ? विश्व विद्यालय इसमें अपनी भूमिका किस तरह निभा सकते हैं? क्या उनकी भूमिका पूर्व में संचित ज्ञान का प्रसार करना है या इसके इतर भी उनकी कोई भूमिका हो सकती है? टैगोर ने इन प्रश्नों पर विचार करते हुए भारतीय संदर्भ में विश्व विद्यालय के अपने सपने को साकार करने की कोशिश की।

उनके अनुसार 'हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि भारतीय मेधा ने स्वयं को किस तरह अभिव्यक्त किया है। हमें विभिन्न विचारधाराओं को एक साथ रख कर अपने विश्वविद्यालयों में इन पर विचार करना होगा कि इन सबको जोड़ने वाले घटक कौनसे हैं, जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे हम बाहर से आए उधार के ज्ञान को ही बांटते रहेंगे। ज्ञान वास्तव में वहीं ठहरता है जहां उसका सृजन होता है। विश्वविद्यालयों का पहला काम ज्ञान का सृजन करना है, उसे बांटना तो उनकी बाद की जिम्मेदारी है। हमें ऐसे विद्वानों को आमंत्रित करना चाहिए जो शोध, अन्वेषण और रचनात्मक गतिविधियों से जुड़े हुए हैं।'

'यूरोपीय विश्वविद्यालयों की एक खूबी है जिसे हमारे विद्यार्थियों को जरूर अपनाना चाहिए और वह है जानने की अभिलाषा, प्रकृति के नियमों की खोज करना और मनुष्यमात्र की बेहतरी के लिए उन्हें उपयोग में लाना। विज्ञान और तकनीक के रूप में उसके उपयोग ने पश्चिम में जीवन स्तर को सुधारने में अहम भूमिका निभाई है। जब तक भारत अपने विश्वविद्यालयों के माध्यम से विज्ञान और तकनीकि ज्ञान अर्जित नहीं करता है, गरीबी और अभाव यहां बरकरार रहेंगे। जीवन में बदलाव लाने और उसे समृद्ध, स्वस्थ और ज्यादा शिक्षित बनाने के लिए विज्ञान और तकनीक का सहारा लेना जरूरी है।' लेकिन टैगोर भारतीय विश्वविद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा को भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा के साथ दिए जाने के पक्षधर थे।

शिक्षा के लक्ष्य

टैगोर के मन में औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति गहरा असंतोष था। राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के विचार का भी वे कुछ दूर तक साथ देते हैं लेकिन उसे लेकर उनमें मन में अनेक शंकाएं थीं। तो फिर टैगोर कैसी शिक्षा की कल्पना करते थे? क्या उनके मन में शिक्षा की कोई स्पष्ट तस्वीर थी? वे कहते हैं 'जब मैंने महसूस किया कि बच्चों के लिए स्कूल आरंभ करना मेरा दायित्व है, तब मेरे पास मुश्किल से ही

शिक्षा का कोई अनुभव रहा हो। संभवतः यह मेरे लिए फायदे की चीज थी। क्योंकि शिक्षा का कोई गढ़ा–गढ़ाया, पका–पकाया सिद्धांत मेरे पास नहीं होने की वजह से मुझे प्रयोग और असफलता के रास्ते चलते हुए अपने अनुभवों से गुजरना पड़ा।' टैगोर के शिक्षा दर्शन पर विचार करते हुए उनके दृष्टिकोण में परिवर्तनों को स्पष्ट देखा जा सकता है। राष्ट्रवादी विकल्पों के प्रति असंतोष ने उनके विश्व भारती के विचार को साकार करने में अहम भूमिका निभाई।

उनके गतिविधि केंद्रित विद्यालय ने संभवतः गांधी के बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों को गढ़ने में मदद की। भारत में शिक्षा पर कोठारी आयोग की रिपोर्ट पर भी टैगोर के विचारों का प्रभाव देखा जा सकता है। टैगोर के अनुसार शिक्षा का उच्च आदर्श वही होना चाहिए जो व्यक्ति के जीवन का भी होता है पूर्णता और आत्मसंतोष। लोगों को जीविकोपार्जन के संतोषप्रद साधन उपलब्ध कराना, कमतर लक्ष्य है हालांकि इसके बिना व्यक्ति अपनी आधारभूत जरूरतों को पूरा नहीं कर पाने की स्थिति में उपरोक्त दोनों को भी पाने में नाकाम रह सकता है। टैगोर इस बात की भी कल्पना कर पाते थे कि व्यक्ति का स्वतंत्र विकास किसी भी तरह के बंधन से मुक्त वातावरण में ही संभव है। धर्मग्रंथों के अलावा ऐसा प्रतीत होता है कि टैगोर के विचारों पर यूरोप के पुनर्जागरण और उसके आस–पास के समय का भी असर रहा जब वैज्ञानिक चिंतन और तर्क पर बहुत जोर दिया जाने लगा था।

इस दृष्टि से शिक्षा सिर्फ बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं है। इसे विद्यार्थी के सौंदर्यबोध और रचनात्मकता के विकास पर भी असर डालना चाहिए। ज्ञान और शारीरिक गतिविधियों के लिए तलाश इस प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा है। टैगोर के अनुसार स्वतंत्रता और रचनात्मकता एकदूसरे से जुड़े हुए हैं। व्यक्ति जैसे–जैसे अपनी जैविक प्रकृति का अतिक्रमण करता है वह ज्यादा से ज्यादा मानवीयता, स्वतंत्रता और एकता के करीब आता है और रचनात्मकता का विकास संभव होता है। यह तलाश जीवन को अर्थ देती है और शिक्षा जीवन को सार्थकता प्रदान करने का एक उपक्रम है। यहां व्यक्ति और समुदाय के लक्ष्य एक हो जाते हैं।

टैगोर शिक्षा के कमतर लक्ष्यों को भी नजरअंदाज नहीं करते हैं। औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था में रोजगार को ही शिक्षा के एकमात्र लक्ष्य की तरह प्रस्तुत किया जाता था और उच्चतर लक्ष्यों की पूण अवहेलना की जाती थी। उनका प्रयास था की विज्ञान, तकनीक और कृषि विज्ञान के साथ ही साथ ग्रामीण हस्तशिल्प में भी प्रशिक्षण के माध्यम से गलत जगह पर दिए गए जोर पर से ध्यान हटाया जाए। इनके बिना उपेक्षित ग्रामीण भारत के जीवन का पुनर्निर्माण नहीं किया जा सकता। इसलिए दोनों श्रेणियों के लक्ष्यों को शिक्षा के उद्‌देश्यों में शामिल किया जाना चाहिए।

वे शिक्षा को एक ऐसे उपकरण के रूप में काम में लेना चाहते थे जो युवा भारतीयों को ज्यादा विवेकवान बनाए ताकि वे निरर्थक सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त रहें। वे अपने विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास चाहते थे और इसके लिए शिक्षकों से यह अपेक्षा थी कि वे बच्चों को चीजों पर रचनात्मक ढंग से संदेह करना, बौद्धिक चुनौतियों का सामना करने के लिए तत्पर रहना, विचार और कर्म में निर्भीक रहते हुए दुनिया को जीतने का हौसला रखने वाले बनाना चाहते थे। यही खूबियां हैं जिन्होंने पश्चिम की प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

व्यक्ति और शिक्षा : रचनात्मकता, स्वायत्तता और स्वतंत्रता

हम यहां यह जानने का प्रयास करेंगे कि टैगोर प्रचलित शिक्षा व्यवस्था को किस तरह समझ रहे थे और स्वयं उनकी शिक्षा से क्या अपेक्षाएं थीं ? वे शिक्षा की समाज में क्या जरूरत और भूमिका देखते थे? वे उससे कैसा व्यक्ति बनाने की अपेक्षा रखते थे? मौजूदा शिक्षा व्यवस्था के साथ उनकी क्या असहमतियां थीं? उनके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या होने चाहिए? शिक्षा व्यवस्था कैसी होनी चाहिए ? उसमें किन गुणों और मूल्यों को शामिल किया जाना चाहिए या उनके विकास पर ध्यान दिया जाना चाहिए ? बच्चे को सीखने के लिए कैसा वातावरण मिलना चाहिए ?

टैगोर शिक्षा के अभाव को भारत की प्रगति की राह में सबसे बड़ी बाधा और ज्यादातर समस्याओं की जड़ मानते थे। औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति उनके मन में गहरा असंतोष था। वे लिखते हैं 'हमारी शिक्षा व्यवस्था यह स्वीकार करने से इंकार करती है कि बच्चे बच्चे हैं। बच्चों को सजा इसलिए दी जाती है कि वे बड़ों की तरह बर्ताव नहीं करते और बालोचित शोर मचाने की धृष्टता करते हैं। ... हमारी शिक्षण संस्थाओं में जीवंतता नहीं है, वे विकासमान नहीं हैं जैसे कि कुछ और करना बाकी न रह गया हो, सब पूरा हो चुका है। लोहे की सलाखों से उन्हें दक्षतापूर्वक बनाया जाता है जिनके अंदर बच्चे रहते और पढ़ते हैं।' किसी भी उपयोगी शिक्षा नीति के लिए अनिवार्य उद्‌देश्यों जैसे रचनात्मकता, स्वतंत्रता, आनंद और देश की संस्कृति के बारे में जागरूकता जैसे लक्ष्यों की इसमें पूरी तरह उपेक्षा की गई थी। टैगोर का मानना था कि 'शिक्षा की इमारत खड़ी करना हमारा साझा और सृजनात्मक प्रयास होना चाहिए, सिर्फ शिक्षकों का नहीं, व्यवस्थापकों का नहीं, बल्कि छात्रों का भी। बच्चे अपनी जिंदगी का कुछ हिस्सा इसके निर्माण में भी दें। और महसूस करें कि वे ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसका निर्माण उन्होंने किया है, जो उनकी है और सबसे अच्छी स्वतंत्रता भी यही है जो व्यक्ति चाहता है।' स्वतंत्रता को टैगोर बहुत अधिक महत्व देते हैं। वे तीन तरह की स्वतंत्रताओं का जिक्र करते हैं – मस्तिष्क की स्वतंत्रता, हृदय की स्वतंत्रता और इच्छा–तत्व की स्वतंत्रता और अपनी संस्था में उन्होंने बच्चों को यह तीनों प्रकार की स्वतंत्रता दी। 'मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वतंत्रता के द्वारा ही मनुष्य का पूर्ण विकास हो सकता है। जब हम स्वतंत्रता को सीमित कर देते हैं तो उसका मतलब होता है कि हमारा अपना कोई मकसद है जिसे हम बच्चों पर आरोपित करना चाहते हैं और तब प्रकृति का जो अपना उद्देश्य है – बच्चों को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर मिलना – वह हमारे दिमाग में नहीं रहता।'

मातृभाषा

मुख्यतः इस चरण में टैगोर ने शिक्षा के माध्यम और औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति की सीमाओं की चर्चा की। उन्होंने मातृभाषा की बजाय अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए जाने को अनुचित बताया और पूरे लगाव के साथ मातृभाषा का महत्व समझाया। वे मातृभाषा को उच्च शिक्षा तक माध्यम में रूप में अपनाए जाने का पक्ष लेते थे। यहां तक कि वे अंग्रेजी को भी मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाने की बात करते थे। उनका यह मानना था कि जब तक मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जाता है सबके लिए शिक्षा संभव नहीं हो सकती। हालांकि भाषा के प्रश्न को लेकर गांधी जैसा अतिवाद टैगोर के यहां देखने को नहीं मिलता। गांधी के बुनियादी शिक्षा की कार्ययोजना में अंग्रेजी को कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया है जबकि टैगोर द्वारा स्थापित श्रीनिकेतन में कक्षा एक से ग्रामीण बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी।

मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाए जाने पर जोर देते हुए उन्होंने कहा है कि अंग्रेजी भाषा के इस्तेमाल से पढ़ाए जाने वाले विषयों के साथ विद्यार्थियों को संबंध बनाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता रहा है और इसके कारण शिक्षा शहरी सम्पन्न लोगों तक ही सामित रही। यदि शिक्षा का लाभ व्यापक ग्रामीण समाज तक पहुंचाना है तो यह बहुत जरूरी है कि उच्च शिक्षा सहित सभी स्तरों तक उसका माध्यम बांग्ला या अन्य स्थानीय भाषाओं को बनाया जाए। शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग का उनका विचार नया नहीं था। उन्होंने 1892 में अपने लेख 'शिक्षेर हेरफेर' में भी मातृभाषा के उपयोग पर जोर दिया था और इस विचार से वे कभी डिगे नहीं।

पूरब और पश्चिम

उनका यह मानना था कि प्रत्येक राष्ट्र अन्यों से भिन्न होता है और इस भिन्नता की झलक उसकी शिक्षा व्यवस्था में होनी चाहिए। उन्होंने शांति निकेतन में 1901 में आश्रम स्कूल की स्थापना प्राचीन भारतीय तपोवनों या जंगलों में चलने वाले आश्रम स्कूलों की तर्ज पर की। टैगोर का मानना था कि तपोवन खासतौर से भारतीय शिक्षा परम्परा को प्रतिबिम्बित करते हैं। तपोवन में शिक्षा को साधना से जोड़ कर देखा गया है। लेकिन टैगोर ने तपोवन में विज्ञान तथा अन्य आधुनिक विषयों को शामिल कर उनके स्वरूप को विस्तार दिया।

वे भारत में पश्चिम की नकल पर पाठ्य सामग्री, इमारत और फर्नीचर आदि पर बहुत ज्यादा ध्यान देने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि इससे आम आदमी के लिए शिक्षा बहुत महंगी हो जाएगी। वे किताबी मात्र ज्ञान का भी विरोध करते थे। ''किताबें हमारे मन और जीवन के बीच में आ गई हैं। उन्होंने हमें प्रकृति और जीवन से सीधे ज्ञान अर्जित करने की हमारी स्वाभाविक क्षमता से वंचित कर दिया है हमारे बीच हर बात को किताब के माध्यम से जानने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। हम दुनिया को अपने मन की आंख से नहीं बल्कि किताबों के माध्यम से जानने की कोशिश करते हैं। वे हमें अमानवीय और असामाजिक बनाती हैं ...... विद्यार्थियों को अपने स्वतंत्र प्रयासों के द्वारा प्रत्यक्ष स्रोतों से देश के विभिन्न भागों से स्वयं ज्ञान अर्जित करने दें।'

प्रकृति और सादगी

टैगोर कहते हैं कि उन्होंने शिक्षा का कोई नया सिद्धांत नहीं दिया है, बल्कि अपने स्कूली दिनों की याद ने उन्हें आवासीय स्कूल खोलने के लिए प्रेरित किया। 'मैं ने अपना स्कूल शहर से दूर एक ऐसी सुंदर जगह पर बनाया जहां बच्चों को पुराने पेड़ों की छांव में भरपूर आजादी मिल सके।' उनका मानना था कि आदर्श विद्यालय वह है जो आबादी से दूर खुले आकाश और दूर तक फैले मैदानों के बीच पेड़–पौधों से घिरे प्राकृतिक वातावरण के बीच स्थापित हो। जंगल में रहने का अर्थ आडंबरहीन अनुसंधान और त्याग से भी जुड़ा हुआ है। प्रकृति की विषद पृष्ठभूमि ऐसा व्यापक परिप्रेक्ष्य विकसित करती है जिसमें सभी भावनाएं और वस्तुएं सही जगह लेती हैं। वे इंद्रियों और बुद्धि को शिक्षित करने के साथ ही साथ संवेदनाओं के स्तर पर भी व्यक्ति को शिक्षित किए जाने के महत्व पर जोर देते हैं। उनके यहां जंगल सिर्फ जंगल नहीं है बल्कि वह तपोवन है।

ग्रामीण जीवन और शिक्षा का प्रस्ताव

टैगोर की यह मान्यता थी कि भारत में दी जाने वाली ऐसी कोई भी शिक्षा, चाहे वह विश्वविद्यालय स्तर की हो या विद्यालय, तब तक पूरी नहीं मानी जा सकती जब तक कि ग्रामीण जीवन शैली का उसमें समावेश नहीं किया जाता है। वर्तमान भारतीय विश्वविद्यालय ज्ञान को संचित कर उसे संरक्षित करने, राष्ट्रीय धरोहर को संरक्षित करने और विदेशों से प्राप्त ज्ञान के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करने की दिशा में प्रयत्नशील दिखाई नहीं देते। न ही वे गांवों में जीवन को सुधारने की दिशा में प्रयास करते नजर आते हैं। ''आधुनिक विश्वविद्यालय उस जगमगाते रेल के कूपे की तरह हैं जो अंधेरे में डूबे गांवों के बीच से तेज रफ्तार के साथ गुजर जाते हैं।''

टैगोर इस बारे में आश्वस्त थे कि भारत में ग्रामीण जीवन शैली पर आधारित नए किस्म की शिक्षा व्यवस्था भारतीय बच्चों के लिए कारगर होगी। उन्होंने शांतिनिकेतन के पास ही सुरुल नामक स्थान पर एक पुरानी इमारत खरीदी। वर्ष 1921 में अमरीका में उनकी मुलाकात लियोनार्ड एमहर्स्ट से हुई थी जो भारत के गांवों के पुनर्निर्माण पर काम करना और यहां समय बिताना चाहते थे। टैगोर ने उन्हें शांतिनिकेतन के आस–पास के गांवों के बारे में बताया जहां लोगों के जीवन में गहरी निराशा थी, संसाधनों का अभाव था और लोगों में आपसी सामंजस्य भी नहीं था। टैगोर ने उनसे अनुरोध किया कि वे शांतिनिकेतन में सहयोग करें, इन गांवों की स्थितियों के पीछे के कारणों का पता लगाएं और यहां के हालात में सुधार के उपाय सुझाएं। उनका उद्देश्य लोगों के आय के स्रोत बढ़ाना लेकिन उससे भी पहले उनके जीवन को खुशहाल बनाना था।

उनकी मान्यता थी कि गांवों में लोगों की स्थितियों को सुधारने के लिए इस बात की जरूरत है कि लोग भाग्य पर भरोसा करना छोड़े और अपने आप में यकीन करना सीखें। श्रीनिकेतन में शिक्षा सत्र नामक विद्यालय शुरू करते समय गांवों के पुनर्निर्माण की यही अवधारणा उनके मन में थी। इस नए विद्यालय का मकसद गांव के सभी बच्चों को ऐसी समग्र शिक्षा उपलब्ध कराना था जो उन्हें गरिमापूर्ण आजीविका हासिल करने के काबिल बनाने के साथ ही गांवों की जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए भी तैयार करें।

एमहर्स्ट के नेतृत्व में शुरू से ही इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य जमीन की उत्पादकता को बढ़ाना था। लेकिन टैगोर गांवों में खेती, शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक जीवन स्थितियों में पूर्ण सुधार चाहते थे। श्रीनिकेतन में कृषि अनुसंधान और प्रयोग किए जाने के साथ ही उनका लाभ गांवों को पहुंचाने पर जोर दिया गया। साथ ही चिकित्सकीय देखभाल और मलेरिया उन्मूलन को भी समान महत्व दिया गया। इस केंद्र पर विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ साथ मिल कर काम करते थे ताकि ग्रामीण जीवन की तकलीफों को कम किया जा सके। इसके अतिरिक्त एक स्काउट आंदोलन भी खड़ा किया गया जो ग्रामीण विकास के कार्यक्रम के लिए संगठित कर उसमें अभिभावकों को शामिल करने के लिए बच्चों को संगठित करता था।

हस्तशिल्प और जीवन का आनंद

प्रकृति के साथ संपर्क, साहित्य की सहायता से सामुदायिक संबंधों के बारे में जागरूकता, उत्सवों और धर्म के बारे में शिक्षा के माध्यम से उन्होंने बच्चों की आत्मा के उन्नयन का प्रयास किया। लेकिन यह पर्याप्त नहीं था इसलिए उन्होंने काम की शिक्षा को 'हमारी खोजी और रचनात्मक ऊर्जा के लिए ऐसी आनंददायी गतिविधि के रूप में शामिल किया जो बच्चों के चरित्रनिर्माण में मददगार हो।'

हस्तशिल्प श्रीनिकेतन में शिक्षा एक मूलभूत विषय क्षेत्र था; सभी बच्चों के लिए किसी न किसी व्यवसाय को सीखना अनिवार्य था। एक अन्य मुख्य गतिविधि थी जिसके तहत कृषि ऋण, सिंचाई, अन्न भंडार आदि के लिए लगभग 200 सहकारी समितियों का गठन की थी। स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए नई फसलों और मौजूदा फसलों की नई किस्मों को लगाने से संबंधित प्रयोग भी किए गए। एक

डेयरी फार्म ने वैज्ञानिक तौर–तरीकों से पशु–पालन का उदाहरण प्रस्तुत किया। ग्रामीणों से यह अपेक्षा की गई कि वे अपनी आय बढ़ाने के लिए ग्रामोद्योग को अपनाएं। ग्रामीण कल्याण विभाग ने सार्वजनिक कार्य शुरू किए (जैसे जलाशयों की मरम्मत और उन्हें गहरा करना), गांवों के स्कूलों की देखभाल, गांवों के लिए चल पुस्तकालन का संचालन, और स्काउट आंदोलन के तहत सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना आदि। 1940 में उनके स्वास्थ्य विभाग में एक डिस्पेंसरी और मातृ–शिशु कल्याण केंद्र को भी शामिल कर लिया गया।

श्रीनिकेतन का लक्ष्य था काम में आनंद को शामिल करना। पिकनिक, भ्रमण, खेलकूद, संगीत, नाटक और सामाजिक धार्मिक समारोहों का आयोजन यहां की नियमित गतिविधियों में शामिल थे। नववर्ष, वर्षा ऋतु उत्सव, नए धान का उत्सव, वसंतोत्सव नियमित रूप से मनाए जाते। टैगोर ने इनमें हलकर्षण (जमीन की जुताई का उत्सव) और वन महोत्सव (पौधारोपण) को भी इनमें जोड़ दिया। गांवों की नीरस जिंदगी में उत्साह लाने के साथ ही इन उत्सवों ने बच्चों और बड़ों के मिल जुल कर काम करने के अवसर भी उपलब्ध कराए।

टैगोर अपने भाषणों, कहानियों, उपन्यासों, कविताओं और गीतों के माध्यम से वर्षों तक अपने देशवासियों से ग्रामीण जीवन के लिए काम करने का आह्वान करते रहे थे। गांधी के भारत के राजनीतिक परिदृश्य में आने से पहले तक इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। लेकिन कवि टैगोर अकेले ही अपने मकसद में जुटे रहे। श्री निकेतन में प्रयोग में लाया गया ग्रामीण विकास का कार्यक्रम ग्रामीण विकास के लिए उपयुक्त कार्यक्रम के रूप में भारत की पंचवर्षीय योजना में भी अपनाया गया।

पश्चिम का प्रभाव

सी.एफ. एण्ड्र्यूज, विलियम पियर्सन और लियोनार्ड एमहर्स्ट जैसे तीन प्रमुख अंग्रेज सहयोगियों के अलावा भी अनेक बड़े विद्वानों ने कवि के विद्यालय शांतिनिकेतन का दौरा कर यहां के शिक्षण कार्यक्रमों में भाग लिया। टैगोर के विचारों में कई मायनों में रूसो, फ्रोबेल, डीवी, मोंटेस्सरी तथा अन्य की झलक मिलती है। उदाहरणतः रूसो की तरह टैगोर भी प्रकृति को बच्चे का शिक्षक मानते हैं, लेकिन टैगोर उनसे अलग इस अर्थ में हैं कि वे शिक्षक की भूमिका को भी बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं।

फ्रोबेल और टैगोर दोनों ही उस सब के प्रति एक लय की तरफदारी करते हैं जो अस्तित्व में है और जिसे शिक्षा के माध्यम से अर्जित किया जा सकता है। दोनों ही शिशु अवस्था में खेल और घरेलू गतिविधियों को और बचपन में सामुदायिक कार्यों को शिक्षा का अंग मानते हैं। इसी तरह डीवी, मोंटेसरी और तोलस्तोय के विचारों की झलक भी टैगोर के शिक्षा संबंधी विचारों में देखने को मिलती है लेकिन वे सभी जो कवि टैगोर के विचारों को जानते हैं वे यह भी जानते हैं कि इस साम्य के बावजूद टैगोर इनमें से किसी के कर्जदार नहीं थे। उनके विचार उनके अपने मन और आत्मा की उपज थे और भारत के परम्परागत शैक्षिक अनुभव और दर्शन की आधारभूमि से पैदा हुए थे।

महिला शिक्षा

महिला शिक्षा भी उनके प्रमुख सरोकारों में शामिल थी। उनके द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थानों में सह शिक्षा की व्यवस्था थी और शांतिनिकेतन में खासतौर से बालिकाओं की संख्या ज्यादा थी। वे बालक–बालिकाओं को समान सैद्धांतिक शिक्षा के साथ ही समाज में उनकी भिन्न भूमिकाओं को ध्यान में रखते हुए व्यावहारिक अलग–अलग पाठ्यक्रमों की सिफारिश करते थे। वे शिक्षा की किसी भी योजना में शिक्षक की भूमिका को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे।

अनुशासन

टैगोर अनुशासन के नाम पर किसी भी तरह के शारीरिक दंड के खिलाफ थे। वे जीवन के उच्च आदर्शों को प्राप्त करने के लिए आत्मानुशासन पर जोर देते थे। जब छोटी–छोटी इच्छाओं पर बड़ी रचनात्मक आकांक्षाएं हावी होने लगती हैं अनुशासन व्यक्ति के अंदर से आता है। टैगोर चाहते थे कि उनके विद्यार्थी समूची मानव जाति के बारे में सोचना सीखें। वे चाहते थे कि वे उनकी तरह विश्व नागरिक बनें और संकीर्ण राष्ट्रवाद से ऊपर उठ कर यह समझें कि शांति और सद्भाव से ही दुनिया का विकास संभव है।

टैगोर का निधन 1941 में हो गया लेकिन उनके द्वारा शांति निकेतन में स्थापित पाठ भवन और श्रीनिकेतन में शिक्षासत्र आज भी जीवित हैं। निश्चय ही उनके स्वरूप में बहुत बदलाव आया है। विश्व भारती आज एक केंद्रीय विश्वविद्यालय है, हालांकि उसके स्वरूप में भी बहुत बदलाव आया है। टैगोर ने ललित कला, शिल्प, चित्रकला और संगीत पर बहुत जोर दिया था और विश्व भारती की निगरानी में आज भी कला भवन और संगीत भवन नाम से दो स्वायत्त संस्थाएं आज भी संचालित हो रहे हैं।

2- स्वामी विवेकानंद ¼1863&1902½

स्वामी विवेकानंद का जन्म 23 जनवरी 1863 को कलकत्ता में हुआ था। उनके बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त एक वकील थे और कला व साहित्य के प्रेमी थे। उनकी माता भुवनेश्वरी देवी धार्मिक, दयालु हृदय व हिन्दू मान्यताओं में आस्था रखने वाली महिला थी।

बचपन से ही नरेन्द्रनाथ में असाधारण मानसिक क्षमता थी। उनके मन में उठने वाले प्रश्नों व जिज्ञासाओं का उन्हें समाधान नहीं मिल रहा था। उनकी जिज्ञासाएँ बढ़ती गईं। स्काटिश कालेज में अध्ययन करते समय उनके प्रिंसिपल प्रो. विलियम हेती ने उन्हें स्वामी रामकृष्ण परमहंस से मिलने दक्षिणेश्वर भेजा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस का साक्षात्कार करने के बाद उन्हें अपने प्रश्नों का उत्तर मिल गया और यहीं से उनके जीवन की दिशा बदल गई।

शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए मई 1993 में वे अमेरिका गए। वहाँ उन्होंने अपने ओजस्वी भाषण से लोगों पर अभूतपूर्व प्रभाव छोड़ा। कुछ वर्षों बाद भारत लौटकर उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। 39 वर्ष की अल्पायु में उनका निधन हो गया।

स्वामीजी ने वेदांत दर्शन की आधुनिक परिपेक्ष्य में पुर्नव्याख्या की। उनका कहना था कि आध्यात्मिक उन्नति के पूर्व देश की समृद्धि आवश्यक है। जब तक प्रत्येक भारतवासी का जीवन स्तर उच्च नही हो जाता, जब तक जीवन संघर्ष के लिए वे तैयार नही हो जाते, तब तक आध्यात्मिक उन्नति की बातें निस्सार होंगीं। उनका मानना था कि भीरु, म्लान और उदासीन व्यक्ति जीवन में कोई कार्य नही कर सकते हैं। कार्य वही कर सकते हैं जो वीर, निर्भय और कर्मठ हैं।

स्वामीजी वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कटुतम आलोचक और व्यावहारिक शिक्षा प्रणाली के प्रबल समर्थक हैं। उनका कहना है कि जो शिक्षा प्रणाली जनसाधारण को जीवन संघर्ष से जूझने की क्षमता प्रदान करने में सहायक नही होती, जो मनुष्य के नैतिक बल का, उसकी सेवावृत्ति का, उसमें सिंह के समान साहस का विकास नही करती, वह व्यर्थ है। वर्तमान शिक्षा ऐसा नही कर पा रही है। वह बाबुओं का उत्पादन करने में सक्षम एक कुशल यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नही है।

शिक्षा का अर्थ–

स्वामी विवेकानंद के अनुसार ''मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। यह पूर्णता मनुष्य के भीतर स्वतः विद्यमान रहती है और शिक्षा द्वारा इसका अनावरण मात्र किया जाता है।'' क्या हमारी शिक्षा बच्चों की इस अन्तर्निहित पूर्णता को बाहर निकाल पा रही है। यदि नही तो हम इसे शिक्षा कैसे कहेंगे?

शिक्षा ऐसी हो जो बच्चे को जीवन संग्राम के अनुकूल बनाये, उसमें चरित्र की दृढ़ता और मानसिक बल उत्पन्न करे तथा उसे आत्मनिर्भर बनाये। शिक्षा द्वारा मनुष्य का निर्माण किया जाता है।

सारे अध्ययनों का अंतिम ध्येय मनुष्य का विकास है।

ज्ञान हमारे भीतर है और आवरण से ढंका है। आवरण जब धीरे–धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं, हम सीख रहे हैं। बालक अपने आपको शिक्षित करता है, शिक्षक केवल बाधाओं को हटाता है? विद्यालय और शिक्षकों का दायित्व है – बच्चों को सीखने की परिस्थितियॉं उपलब्ध करायें।

शिक्षा के उद्देश्य–

विद्यार्थी के लक्ष्य क्या हैं? क्या बच्चों को दी जा रही शिक्षा इस लक्ष्य के अनुरूप है? यदि नही तो लक्ष्य के अनुरूप शिक्षा में परिवर्तन होना चाहिए।

स्वामीजी ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. राष्ट्रीयता की भावना एवं राष्ट्रीय गौरव का विकास।
2. मानव–प्रेम, समाज–सेवा एव विश्व–बंधुत्व के गुणों का विकास।
3. मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं सामाजिक विकास।
4. मनुष्य को जीवन संघर्ष के लिए तैयार करना। इसके अंतर्गत आजीविका के लिए शिक्षा भी शामिल है।
5. मनुष्य का नैतिक, चारित्रिक व धार्मिक विकास।
6. मुक्ति के लिए मनुष्य की क्षमताओं का विकास।
7. मनुष्य में आत्म–विश्वास, आत्म–श्रद्धा, आत्म–त्याग, आत्म–नियंत्रण, आत्म–निर्भरता के गुणों का विकास।

शिक्षा का एकमेव मार्ग –एकाग्रता

स्वामी विवेकानंद जी ने एकाग्रता को शिक्षा का संपूर्ण सार माना है। उनके अनुसार एकाग्रता का आशय विचारों को लक्ष्य पर संकेन्द्रित करना हैं। विभिन्न क्षेत्रों में सफलता के पीछे एकाग्रता ही प्रमुख है। उनके अनुसार एकाग्रता के तीन तत्व हैं–

- मन, वाणी व कर्म में पवित्रता (ब्रम्ह्यचर्य)
- आत्मविश्वास
- सकारात्मक सोच कि मुझमें अनंत क्षमता है। (परमात्मा का अंश होने के कारण)

शिक्षा ऐसी हो जो बच्चों में एकाग्रता के तीनों तत्वों का विकास करे।

चरित्र गठन के लिए शिक्षा–

स्वामीजी का कहना है कि हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार चित्त पर एक संस्कार छोड़ जाता है। इन विभिन्न संस्कारों की समष्टि ही चरित्र है। बुरी आदत का एकमात्र प्रतिकार है उसके विपरीत आदत। केवल इसी से बच्चों में अच्छी आदतों का विकास होगा।

विद्यालय का वातावरण व शिक्षकों के कार्य व विचार इस तरह हों कि बच्चों पर अच्छे संस्कार पड़ें क्योंकि इनसे ही उनके चरित्र का निर्माण होगा।

व्यक्तित्व का विकास–

स्वामीजी के अनुसार– मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है वह एक तृतीयांश शब्दों और विचारों का होता है, शेष दो तृतीयांश प्रभाव व्यक्तित्व का होता है। वर्तमान शिक्षा व्यक्तित्व के केवल एक तृतीयांश को ही विकसित कर पा रही है। व्यक्तित्व के दो तृतीयांश को संस्कारित करना शिक्षा का परम लक्ष्य होना चाहिए।

सारी शक्ति सूक्ष्म में होती है। स्थूल की हलचल इन्ही सूक्ष्म हलचलों का परिणाम है। इसी तरह विचार सूक्ष्म हैं, जो अधिक विकसित होने पर या कार्य अर्थात् स्थूल में परिणत होने पर देखे जा सकते हैं। अतः इस सूक्ष्म अर्थात् विचार को नियंत्रित करने के उपाय शिक्षा द्वारा खोजे जाने चाहिए।

शिक्षक और शिष्य–

स्वामीजी ने शिक्षक को बालक के मित्र, परामर्शदाता और पथ–प्रदर्शक का स्थान दिया है। उनका कहना है– शिक्षक त्यागी व चरित्रवान हों, अतः शिक्षक का व्यक्तिगत जीवन उत्तम हो। उनके अनुसार– ''सच्चा गुरू वह है जो अपने को तुरन्त शिष्य की सतह तक नीचे ला सकता है'' अर्थात बाल मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर एवं बच्चों के स्तर तक पहुँचकर शिक्षा दी जानी चाहिए।

उनका यह भी कहना है कि शिक्षकों को चाहिए वे बच्चों के सामने सकारात्मक विचार रखें। नकारात्मक विचार बच्चों के विकास को बाधित करते हैं।

शिक्षक के तीन विशिष्ट गुणों की उन्होंने चर्चा की है –

- ❖ शास्त्रों का मर्म ज्ञात हो –अर्थात विषय की अवधारणाऍ स्पष्ट हो।
- ❖ निष्पापता – अर्थात शुद्धचित्त होकर बच्चों को समान दृष्टि से देखे।
- ❖ उद्देश्य संबंधी – धन, नाम व यश के स्वार्थ से दूर होकर बच्चों के हित में निष्काम सेवा करे।

स्वामी विवेकानंद जी के अनुसार गुरुकुल प्रथा, शिक्षक–शिष्य संबंधों के लिए अनुकूल है। वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल उसमें संशोधन करके गुरुकुल प्रथा की पुर्नरचना की वे सलाह देते हैं। उन्होंने गुरूगृह वास की बात कही है, शिष्य को बाल्यावस्था से ऐसे गुरू के साथ रहना चाहिए जिनका चरित्र उत्तम हो।

प्राचीनकाल में निःशुल्क शिक्षा थी, ऐसी धारणा थी कि ज्ञान इतना पवित्र है कि इसे बेचना नही चाहिए। प्राचीनकाल में गुरू बिना शुल्क लिए बच्चों को अपने पास रखते थे, उन्हें अन्न–वस्त्र भी देते थे, गुरु के निर्वाह के लिए धनी लोग दान देते थे।

शिक्षक के प्रति भी शिष्य के मन में सम्मान व विश्वास की भावना हो। उनके अनुसार शिष्य में तीन गुण होने चाहिए –

- विचार, वाणी और कार्य की पवित्रता, जिसे शुद्धता कहा गया है।
- ज्ञान की सच्ची पिपासा अर्थात् जिज्ञासु हो, लक्ष्य निर्धारित करे।
- लगन के साथ परिश्रम, निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मेहनत करे, जुझारू व संघर्षशील हो।

शिष्य होने की चार शर्तो का उल्लेख भी उन्होंने किया है –

- इच्छाओं का त्याग।
- मनोनिग्रह अर्थात् इन्द्रियों पर नियंत्रण।
- सहन शक्ति – विपरीत परिस्थितियों में धैर्य व संतुलन।
- मुक्त होने की तीव्र आकांक्षा।

शिक्षक–शिष्य संबंधो की उपेक्षा शिक्षा के विकास में बाधक है अतः शिक्षक और शिष्य में उपरोक्त गुणों का प्रादुर्भाव कैसे हो, इसके लिए प्रयास किया जाना चाहिए।

lk/; vkSj lk/ku&

स्वामीजी का मानना है– किसी भी कार्य में सफलता के लिए साध्य के साथ–साथ साधन भी उतना ही महत्वपूर्ण है। साध्य पर तो हमने ध्यान दिया, साधन पर नहीं। साधन की शुद्धता तथा वे कितने प्रभावशाली व उपयोगी हैं इस पर भी ध्यान देना होगा तथा असफलता के लिए साधनों की समीक्षा करनी होगी ।

सीखने का पहला पाठ यह है कि बाहरी किसी वस्तु पर दोष मढ़ने के बजाय अपने अधिकार क्षेत्र के साधनों का पूर्ण उपयोग करें।

tuf'k{kk&

स्वामी विवेकानंदजी ने जनसमुदाय की उपेक्षा करने को महान राष्ट्रीय पाप बताया है और कहा है कि जिस अनुपात में जनसमुदाय में शिक्षा का प्रसार होता है,देश उसी अनुपात में उन्नत होता है।

''जनसाधारण को उनकी निजी भाषा में शिक्षा दो'' स्वामीजी ने यह कहकर मातृभाषा में शिक्षा की बात कही है। इस संबंध में उन्होंने भगवान बुद्ध द्वारा पाली भाषा के प्रयोग का उदाहरण दिया है ।

उन्होंने निम्न वर्ग और गरीबों की शिक्षा को प्राथमिकता दिये जाने की बात भी की है–''यदि गरीब बालक शिक्षा लेने नहीं आ सकता, तो शिक्षा को ही उसके पास पहुंचना चाहिए।'' जीवन के लिए आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य व्यापार और कृषि शिक्षा देने की बात भी वे कहते है ।

L=h f’k{kk&

स्वामी विवेकानंदजी स्त्री की दीनता, हीनता और पराधीनता के कट्टर विरोधी हैं। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर बल देते हुए कहा है कि शिक्षित और धार्मिक माताओं के ही घर में महापुरुष जन्म लेते हैं। यदि स्त्रीयॉ उन्नत हो जाएँ तो उनके बालक अपने उदार कार्यों के द्वारा देश का नाम उज्जवल करेंगे। तब तो संस्कृति, ज्ञान, शक्ति और भक्ति देश में जागृत हो जाएगी।

dRrZO; D;k gS\ &

स्वामीजी का कहना है–यह जान लेना आवश्यक है कि कर्तव्य क्या है? केवल बाह्य कार्यों के आधार पर ही कर्तव्य की व्याख्या करना असंभव है । कर्म और कर्तव्य में अंतर है । जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं, वह हमारा कर्तव्य नहीं जो कर्म हमें उन्नत बनाते हैं, वे कर्तव्य हैं । सबसे श्रेष्ठ कर्म यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्तव्य है, उसे हम भलीभांति निभायें । सबसे श्रेष्ठ कार्य तो तभी होता है, जब उसके पीछे किसी प्रकार स्वार्थ की प्रेरणा न हो ।

वे कहते हैं– कर्तव्य चक्र तभी हल्का और आसानी से चलता है जब उसके पहियों में प्रेमरूपी चिकनाई लगी होती है । शिक्षक बच्चों के प्रति प्रेम का भाव रखें तभी कर्तव्य का समुचित निर्वाह कर सकेंगे । प्रेम का विकास केवल स्वतंत्रता में होता है , अतः बच्चों को अभिव्यक्ति व अवसर की स्वतंत्रता हो । विद्यालय का वातावरण ऐसा हो जो शिक्षकों व बच्चों में पारस्परिक प्रेम का भाव विकसित कर सकें ।

Lokeh dh rjg deZ djks&

स्वामीजी के अनुसार हमें निरंतर कर्म करते रहना चाहिए । प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुणदोष से मिश्रित रहता है । अतः गुणदोष के आधार पर नहीं, अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए।

अनासक्त भाव से कार्य करने वाले शिक्षक वर्तमान परिस्थितिवश हारकर पूर्व भाव पर आ जाते हैं तथा अनासक्त भाव खो देते हैं । ऐसे शिक्षकों के लिए प्रेरणा व प्रोत्साहन की आवश्यकता है ।

हमारा कर्तव्य है कि हम बच्चों के लिए कार्य करें और कार्य के बदले में किसी प्रकार के प्रत्युपकार की आशा न रखें । आसक्ति तभी आती है जब हम बदले की आशा रखते हैं । एक शिक्षक को स्वामी की तरह मुक्तभाव से प्रेम के साथ कार्य करने की आवश्यकता है । प्रेम के साथ किया गया प्रत्येक कार्य आनंददायक होता है । स्वार्थ के लिए किया गया कार्य दास का कार्य हे । दास में सच्चा प्रेम होना संभव नहीं है ।

3.मोहनदास करमचंद गांधी

(2 अक्टूबर 1869– 30 जनवरी 1948)

मोहनदास करमचंद गांधी यानि महात्मा गांधी के नाम से हम सभी परिचित हैं। अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतों पर चलते हुए उन्होंने अंग्रेजों की औपनिवेशिक सत्ता को चुनौती दी और भारत के

स्वाधीनता संग्राम में अहम् भूमिका निभाई। गांधी के राजनीतिक चिंतन और योगदान को लेकर बहुत कुछ लिखा जाता रहा है, लेकिन गांधी का चिंतन राजनीति तक सीमित नहीं था। गांधी के विचारों में जीवन का समग्र दर्शन तलाशा जा सकता है। शिक्षा राजनीति में नैतिक मूल्यों के प्रबल पक्षधर गांधी के प्रमुख सरोकारों में शामिल रही है, लेकिन उनके यहां शिक्षा उनकी नीति आधारित राजनीतिक कार्ययोजना का अभिन्न अंग ही रही है।

गांधी के सामने देश की आजादी जैसे बड़े राजनीतिक प्रश्न और संघर्ष थे, ऐसे में बच्चों की शिक्षा जैसे मुद्दों पर काम करने की जरूरत उन्होंने क्यों महसूस की? क्या शिक्षा और राजनीति के बीच वे कोई संबंध देख रहे थे? क्या इसका कोई संबंध उनकी स्वराज की अवधारणा के साथ भी था? उनकी नजर में शिक्षा के क्या उद्देश्य थे और वे किस तरह के समाज की कल्पना करते थे? क्या इन प्रश्नों के जवाब गांधी के शिक्षा के क्षेत्र में किए गए प्रयोगों में तलाशे जा सकते हैं? यहां हम इन्हीं प्रश्नों के जवाब तलाशने का प्रयास करेंगे।

इन प्रश्नों के जवाब तलाशने की ओर जाने से पहले हम संक्षेप में गांधी के जीवन और शिक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए प्रयोगों की चर्चा कर लेते हैं, क्योंकि यही प्रयोग हमें अपने प्रश्नों के उत्तर तलाशने में मदद करने वाले हैं।

1. जीवन

मोहन दास करम चंद गांधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को पोरबंदर, गुजरात में हुआ। इंग्लैंड से वकालत की पढ़ाई करने के बाद जून 1891 में वे स्वदेश लौटे और उन्होंने यहां वकालत शुरू करने की कोशिश की। यहां उन्हें ज्यादा सफलता नहीं मिल पाई और 1893 में एक फर्म के वकील के रूप में दक्षिण अफ्रीका चले गए। दक्षिण अफ्रीका भी उस समय अंग्रेजों के आधीन था। यहां उन्होंने नस्लवादी भेदभाव को देखा और वहीं ठहर कर इस अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने का निर्णय किया। इसी दौरान उन्होंने बाइबिल और कुरान जैसी धार्मिक किताबों के अलावा रूसी लेखक लेव तोलस्तोय की किताब ''द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू'' पढ़ी। इन किताबों ने गांधी के विचारों पर गहरा असर डाला। उन्होंने नटाल कांग्रेस का गठन किया और नटाल के सर्वोच्च न्यायालय में नामांकित होने वाले पहले भारतीय वकील बने। गांधी ने शुरू से ही किसी भी अन्याय के प्रतिकार के लिए अहिंसा और सत्याग्रह की ही रणनीति को अपनाया। सत्ता को चुनौती देने के साथ ही साथ वे जिस वर्ग के हितों के लिए संघर्ष कर रहे हैं, उसकी जीवन स्थितियों को बेहतर बनाने पर भी लगातार काम करते थे। गांधी ने पहले सिद्धांत गढ़ कर उन पर चलने के रास्ते को कभी नहीं अपनाया। उन्होंने जीवन को जैसे जिया उसी से उनके दर्शन का भी निर्माण हुआ।

दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों के व्यापारिक, राजनीतिक और नागरिक हितों की रक्षा के लिए गांधी संघर्ष करते रहे। इस संघर्ष को उन्होंनें भारतीय स्वाधीनता संग्राम के साथ भी जोड़ा। वे भारत में उस समय के प्रमुख नेता गोपाल कृष्ण गोखले के निकट संपर्क में रहे। उन्हें दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति से अवगत कराते रहते। गांधी स्वयं दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए भी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को

समर्थन करते। वे इस बात की भी कोशिश करते कि लोग स्वयं जागरूक हों और अपनी जीवन स्थितियों को बेहतर बनाने की दिशा में स्वयं प्रयत्नशील हों। सत्य और अहिंसा के अलावा आत्मनिर्भरता, हाथ का काम, साफ–सफाई, शिक्षा, और भाषा को उन्होंने स्वाधीनता के संघर्ष प्रमुख औजारों के रूप में काम में लिया। वर्ष 1904 में उन्होंने फिनिक्स आश्रम की स्थापना की, जहां उनके इन्हीं विचारों को क्रियान्वित होते देखा जा सकता है।

2. शिक्षा में गांधी के प्रयोग

2.1 फिनिक्स आश्रम

दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान 1904 में एक यात्रा करते हुए गांधी ने जॉन रस्किन की किताब *अनटू दिस लास्ट* पढ़ी, जिसने उन्हें गहरे तक प्रभावित किया। गांधी ने इस किताब का अनुवाद भी किया जो बाद में 'सर्वोदय' के नाम से छपा। इस किताब से उन्होंने तीन बातों को मुख्यतः ग्रहण किया। 1. व्यक्ति का भला सबके भले में निहित है। 2. वकील का काम उतना ही प्रतिष्ठित है जितना हज्जाम का क्योंकि सबको रोटी–रोजी कमाने का समान अधिकार है। और 3. मेहनत का जीवन, अर्थात खेती करने वाले और कारीगर का जीवन ही वास्तव में जीने योग्य होता है।

अपनी आत्मकथा में इस किताब का जिक्र करते हुए गांधी लिखते हैं ''पहली चीज मैं जानता था। दूसरी की मैं झलक पा रहा था। तीसरी को मैंने सोचा ही नहीं था। पहली में पिछली दोनों बातें समाई हुई हैं। यह मुझे 'सर्वोदय' ने दीपक की भांति स्पष्ट कर दिया। सवेरा हुआ और मैं उस पर अमल करने में लग गया।''

इस किताब को पढ़ने के कुछ ही दिन बाद उन्होंने डरबन से चौदह मील दूर फिनिक्स रेल्वे स्टेशन के पास जमीन का टुकड़ा खरीद कर फिनिक्स आश्रम की स्थापना की। गांधी उस समय 'इंडियन ओपीनियन' नामक अखबार निकालना शुरू कर चुके थे। इस अखबार के कर्मचारी इस आश्रम के सदस्य बने। आश्रम में पहुंचने के पहले ही दिन छपाई मशीन खराब हो गई और नहीं चली तो सदस्यों ने रात भर हाथ पहीए से छपाई कर अखबार को समय पर निकाला। हाथ के काम को गांधी ने हमेशा बहुत महत्व दिया और फिनिक्स आश्रम में इसी के चलते बाद के दिनों में नियमित रूप हाथ–पहिए से अखबार की छपाई होती रही। भूखंड को छोटे–छोटे टुकड़ों में बांट बस्ती के निवासी उस पर अपने अपने हिस्से में खेती करते, प्रत्येक व्यक्ति ने टाइप सेटिंग का काम सीखा इस तरह फिनिक्स आश्रम एक आत्मनिर्भर समुदाय की तरह रहता था। स्त्री, पुरुष बच्चे सभी आश्रम के जीवन में समान रूप से भागीदारी करते। बच्चे रोजमर्रा के कामों में हाथ बंटाते और दिन भर में बहुत थोड़ा सा समय उन्हें लिखने पढ़ने से संबंधित काम दिया जाता था।

2.2 तोल्सतोय फार्म

रूसी लेखक लियो तोलस्तोय की किताब 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' का भी गांधी पर गहरा असर पड़ा। हालांकि तोलस्तोय के साथ व्यक्तिगत संवाद 1909 में एक पत्र के द्वारा हुआ। वर्ष 1910

में फिनिक्स आश्रम की ही तर्ज पर जोहांसबर्ग में आश्रम स्थापित किया तो गांधी ने उसका नाम तोल्सतोय फार्म रखा। तोल्सतोय फार्म गांधी के शैक्षणिक प्रयोगों की आदर्श प्रयोगशाला के रूप में देखा जाता है। गांधी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि ''तोल्सतोय आश्रम एक कुटुम्ब है और मैं उसमें पितारूप हूं, इसलिए मुझे यथाशक्ति इन नवयुवकों के निर्माण की जिम्मेदारी उठानी चाहिए।'' आश्रम में बच्चों की जिम्मेदारी अपनी पढ़ाई के अलावा आश्रम की देखभाल में हाथ बंटाने की थी। फीनिक्स आश्रम में जहां बच्चों को श्रम से जुड़े कामों के बारे में प्रतिदिन निर्देश दिए जाते थे, वहीं यहां उससे एक कदम आगे बढ़ते हुए उपयोगी काम धंधों के प्रशिक्षण को ''बच्चों के सर्वागीण विकास के लिए अनिवार्य मानते हुए शामिल कर लिया गया था।'' हालांकि इस वक्त तक बच्चों को किसी खास धंधे का प्रशिक्षण देने का प्रयास नहीं किया गया था, लेकिन प्रत्येक बच्चे को अपनी पढ़ाई के साथ ही साथ किसी न किसी काम में संलग्न किया जाता था। आश्रम पर मौजूद छह से सोलह वर्ष के सभी बच्चों को प्रतिदिन लगभग आठ घंटे शारीरिक श्रम के साथ ही दो घंटे पढ़ाई–लिखाई के लिए बिताने होते थे।

इस आश्रम में सहशिक्षा पर भी जोर दिया गया और लड़के और लड़कियों को सभी कामों को मिल कर करने के लिए प्रेरित किया जाता। तोल्सतोय आश्रम में लड़के और लड़कियां जिन कामों में योगदान करते उनमें सामान्य श्रम, खाना पकाना, शौचालयों की सफाई, जूते बनाना, बढ़ईगिरी और संदेश वाहकों के काम शामिल थे।

2.3 सत्याग्रह आश्रम और चंपारन के स्कूल

गांधी 1915 में स्वदेश लौट आए। यहां आने के बाद उन्होंने इसी वर्ष अहमदाबाद में सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया, जिसे बाद में साबरमती आश्रम के नाम से जाना गया। यहां रहते हुए ही गांधी ने चरखे का इस्तेमाल कर हाथ से कपड़ा बनाना शुरू किया। कालांतर में उन्होंने कांग्रेस की व्यापक सदस्यता अभियान चलाया और तिलक स्वराज कोष के तहत धन इकट्ठा कर 20 लाख चरखे स्थापित किए और भारत निर्माण अभियान में उनका इस्तेमाल किया, विदेशी के बहिष्कार का नारा दिया और मिल निर्मित कपड़ों की होली जलाई। गांधी ने चरखे को आत्मनिर्भरता के प्रतीक के रूप में स्थापित किया। इसी दौरान बिहार में नील की खेती में लगे किसानों की स्थिति का जायजा लेने गांधी 1917 में चंपारन गए। यहां उन्होंने यह महसूस किया कि ''चंपारन में सच्चा काम करना है तो यहां के गांवों में शिक्षा का प्रवेश होना चाहिए। गांवों में बच्चे मारे–मारे फिरते थे या मां–बाप दो–तीन पैसे की मजदूरी की खातिर उनसे सारे दिन नील के खेतों में मजदूरी करवाते।'' गांधी ने साथियों से सलाह–मशविरा कर वहां छह पाठशालाएं खुलवाईं। यहां भी साक्षरता के साथ शारीरिक श्रम और सफाई को शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में शामिल किया गया।

2.4 गुजरात विद्यापीठ

नवंबर 1920 में गांधी ने अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। अंग्रेजों के वित्तीय और प्रशासनिक नियंत्रण से मुक्त शैक्षणिक संस्थान बनाने के इरादे से इस राष्ट्रीय विद्यापीठ के नाम से इस विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। इसके माध्यम से भारतीय स्वाधीनता के आंदोलन में संलग्न नेताओं को सभी भारतीयों के लिए अपना शैक्षणिक कार्यक्रम लागू करने में मदद मिली। गांधी के सत्याग्रह के आंदोलन

में विद्यापीठ की स्थापना को एक महत्वपूर्ण कड़ी माना जाता है। देश भर में स्वाधीनता के आंदोलन में शामिल नेताओं ने बनारस, मुम्बई, कलकत्ता, नागपुर और मद्रास में इस विद्यापीठ की शाखाएं स्थापित कीं। अंग्रेजी शैक्षणिक संस्थाओं के बहिष्कार के गांधी के आह्वान के जवाब में हजारों विद्यार्थियों और अध्यापकों ने विद्यापीठ में प्रवेश लिया। प्रमुख नेता जीवत राम कृपलानी जैसे लोगों ने इस विद्यापीठ में पढ़ाने का निर्णय किया। विद्यापीठ गांधी के उद्देश्यों में सिद्धांतों में गांधी को शामिल किया गया है। ये सिद्धांत हैं

1. सत्य और अहिंसा, 2. श्रम की गरिमा को महत्व देते हुए शारीरिक श्रम में योगदान, 3. सभी धर्मों की समानता 4. पाठ्यचर्या में ग्रामीणों की जरूरतों को प्राथमिकता और 5. सिखाने के माध्यम के रूप में मातृभाषा का प्रयोग

गांधी अपने विद्यार्थियों या समर्थकों की गलतियों पर उन्हें सजा देने की बजाय स्वयं उपवास पर चले जाते थे। 1925 में अपने आश्रम के निवासियों की गलतियों पर सप्ताह भर तक उपवास किया और इसी दौरान उन्होंने अपनी आत्मकथा 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' भी लिखी।

2.5 सेवाग्राम

अस्पृश्यता के मुद्दे पर गांधी पहले भी काम कर रहे थे। नवम्बर 1933 में वे हरिजन उद्धार यात्रा पर निकल पड़े। सितम्बर 1934 में उन्होंने सक्रिय राजनीति से सन्यास लेने और अपना जीवन ग्रामोद्योग के विकास, हरिजनों के उद्धार और दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा के प्रसार को समर्पित करने की घोषणा की। इसी वर्ष उन्होंने अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की। अप्रेल 1936 में गांधी वर्धा के पास ही स्थित गांव सेवाग्राम में जा कर बस गए, और यहीं अपना मुख्यालय बना लिया। अक्टूबर 1937 में वर्धा में 'अखिल भारतीय शिक्षा परिषद' की बैठक में गांधी ने नई तालीम का प्रस्ताव रखा, जिस पर खुली चर्चा हुई। इस बैठक में सब बच्चों को सात साल तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा, मातृभाषा में शिक्षा, उत्पादक दस्तकारी की शिक्षा आदि के विचार बहस के लिए प्रस्तावित किए गए। बहस के बाद इस प्रस्ताव पर पाठ्यक्रम के विकास के लिए डा. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। आमतौर पर बुनियादी शिक्षा या नई तालीम को दस्तकारी की शिक्षा तक सीमित मान लिया जाता है, लेकिन इस समिति की रिपोर्ट में यह बात खुल कर सामने आई कि यह प्रस्ताव शिक्षा के लिए इससे कहीं ज्यादा व्यापक आधार उपलब्ध कराता है।

3. गांधी का शिक्षा दर्शन

इस तरह हम देखते हैं कि गांधी ने अपने राजनीतिक आंदोलनों के समानांतर लगातार शिक्षा के क्षेत्र में विचार और नवाचार को जारी रखा। दक्षिण अफ्रीका में नस्लवादी भेदभाव और भारत में आजादी की लड़ाई के बीच भी गांधी के शिक्षा को लेकर प्रयोग जारी रहे। ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि व्यापक राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर संघर्ष के बीच आखिर ऐसी क्या वजहें या कारण रहे होंगे जिन्होंने गांधी को बच्चों की शिक्षा पर काम करने की जरूरत का अहसास कराया? आखिर उन्होंने बच्चों की शिक्षा और राजनीतिक–सामाजिक मुद्दों के बीच क्या अंतःसंबंध देखा होगा? क्या उनकी शिक्षा की अवधारणा का कोई संबंध उनकी स्वराज की अवधारणा से भी था? उनकी राय में शिक्षा के क्या उद्देश्य होंगे?

गांधी को समझना जितना आसान है उतना ही मुश्किल भी है। उनके राजनीतिक चिंतन और योगदान को लेकर बहुत कुछ लिखा जाता रहा है, लेकिन गांधी का चिंतन राजनीति तक सीमित नहीं था। गांधी ने स्वयं भी अपने विचारों और जीवन के बारे में बहुत लिखा और गांधी के बाद भी गांधी को तरह–तरह से समझने की कोशिश की जाती रही है। शिक्षा गांधी के प्रमुख सरोकारों में रही है, लेकिन उनके शिक्षा संबंधी विचार अलग–अलग जगहों पर बिखरे हुए मिलते हैं। शिक्षा पर व्यवस्थित रूप से उनका लिखा ज्यादा कुछ पढने को नहीं मिलते, लेकिन उनके शिक्षा से जुड़े प्रयोगों और उनके द्वारा जहां–तहां व्यक्त किए गए शिक्षा संबंधी विचारों में एक तरह की निरंतरता देखने को मिलती है।

शिक्षा और राजनीति में जैसा संतुलन गांधी ने बनाया वैसा उनसे पहले किसी भी भारतीय शिक्षाशास्त्री अथवा राजनेता के लिए संभव नहीं हुआ। वे एकमात्र ऐसे भारतीय नेता थे, जिन्होंने आजादी के बाद भारत की सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र में बनती जा रही मानसिक गुलामी के खतरे को भांप लिया था। आधुनिकता के सिद्धांत पर आधारित विकास की तार्किक परिणति को वे उस समय में भी देख पा रहे थे और उन्होंने उसमें मौजूद शोषणकारी स्थितियों का पूर्वानुमान कर पा रहे थे।

गांधी जिस समय में शिक्षा पर विचार कर रहे थे, उस समय ज्यादातर भारतीय विचारक, समाज सुधारक और शिक्षाविद औपनिवेशिक अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के प्रति नकार के साथ अपना शिक्षा दर्शन गढ़ रहे थे। गांधी के शैक्षिक चिंतन में यह नकार ज्यादा मुखर नजर आता है। गांधीजी के अनुसार औपनिवेशिक व्यवस्था सत्य और अहिंसा का नकार करती हैं। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि गांधी का शिक्षा दर्शन अंग्रेजों की प्रतिक्रिया स्वरूप या सिर्फ नकारात्मक सोच से पैदा हुआ हो। गांधी के लेखन में कई जगह पूर्व और पश्चिम के बीच का द्वंद देखने को मिलता है, लेकिन उनके शिक्षा संबंधी लेखन और विचार उस द्वंद भी उपज नहीं हैं, बल्कि उनके शैक्षिक विचारों को बहुत सहजता के साथ पेस्टालोजी, ओवेन, टॉल्सतोय और डीवी की परम्परा में रख कर देखा जा सकता है।

गांधी का शिक्षा दर्शन मूलतः प्रगति की पश्चिम की अवधारणा से अलग हटकर भारत के पुनर्निर्माण के स्वप्न से संचालित था। औपनिवेशिक शिक्षा की आलोचना गांधी की पश्चिमी सभ्यता की समग्र आलोचना का हिस्सा थी। औपनिवेशिकरण, इसके शिक्षा के एजेण्डा सहित, गांधी की दृष्टि में सत्य और अहिंसा का निषेध करता था– जिन्हें वे दो सर्वोच्च मूल्य मानते थे। पश्चिमवासियों ने अपनी 'सारी ऊर्जा, उद्योग और उद्यम अन्य नस्लों को लूटने और विनाश करने में लगाए हैं' यह तथ्य गांधी के लिए पश्चिमी सभ्यता की 'दुर्दशा' का पर्याप्त प्रमाण था। इसलिए उनकी राय में यह 'प्रगति' का प्रतीक नहीं हो सकती और इसलिए इसे भारत के लिए अनुकरणीय या यहां स्थापित किए जाने योग्य व्यवस्था नहीं कहा जा सकता।

इस तरह गांधी का शिक्षा दर्शन पश्चिम के देशों में चलाई जा रही व्यवस्था की नकल की बजाय उसका विकल्प प्रस्तुत करता है। शिक्षा उनकी समग्र राजनीतिक कार्ययोजना का हिस्सा थी। गांधी के लिए स्वराज राजनीतिक आजादी तक सीमित नहीं था, बल्कि इसका अर्थ 'जनता का स्वशासन' था। उनका मानना था कि जनता के इस स्वशासन की प्राप्ति के लिए जन शिक्षा की एक राष्ट्रीय कार्ययोजना होनी चाहिए।

गांधी एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जिसमें सत्ता का किसी भी रूप में केंद्रीकरण न हो। उनका मानना था कि केंद्रीकरण अनिवार्यतः हिंसा की मनोवृत्ति को बढ़ाता है। उनकी समाज व्यवस्था की आदर्श इकाई आत्मनिर्भर गांव रहा। उनका मानना था कि हिंसा की जरूरत तभी पड़ती है जब हम किसी अन्य पर अनिवार्यतया आश्रित हों। आत्मनिर्भर और अहिंसक समाज के लिए अहिंसक आचरण वाले आत्मनिर्भर या स्वावलंबी व्यक्ति की जरूरत होती है। गांधी के शिक्षा दर्शन का भी केन्द्रीय विचार एक अहिंसक समाज के लिए अहिंसक स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण है। गांधी ने अपने सभी शैक्षणिक प्रयोगों में व्यक्ति की इसी आत्मनिर्भरता पर सर्वाधिक जोर दिया।

3.1 व्यक्ति और शिक्षा

गांधी के शिक्षा दर्शन पर विचार करने से पहले थोड़ा सा विचार इस बात पर भी कर लें कि गांधी की व्यक्ति की अवधारणा क्या थी और वे शिक्षा को किन अर्थों में समझते थे।

गांधी यह मानते थे कि व्यक्ति महज मन, शरीर या आत्मा नहीं है बल्कि इन तीनों का एक संतुलित संयोजन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। शिक्षा का काम व्यक्ति के बच्चे के मन, शरीर और आत्मा के श्रेष्ठतम गुणों को उभारने का होना चाहिए। उनका मानना था साक्षरता शिक्षा का अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकती। यह सिर्फ एक माध्यम भर है जिसके द्वारा व्यक्ति के बच्चे–बच्चियां शिक्षा को अर्जित करते हैं। साक्षरता अपने आप में शिक्षा नहीं है। बच्चे की शिक्षा की शुरुआत उसे हाथ से किए जाने वाले उपयोगी कामों को सिखाने से होनी चाहिए और उसे सीखना शुरू करने के साथ ही उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करने में समर्थ बनाने की दिशा में प्रयास किया जाना चाहिए। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि इस तरह की शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति के मन, शरीर और आत्मा का विकास हो सकता है। उनका यह भी मानना था कि हाथ से किए जाने वाले कार्य या दस्तकारी का प्रशिक्षण महज तकनीकि स्तर तक ही सीमित नहीं होना चाहिए बल्कि इसे वैज्ञानिक ढंग से सिखाया जाना चाहिए यानि बच्चे को यह जानना चाहिए कि वह जिस वस्तु को बनाना सीख रहा है उसके प्रत्येक चरण के बारे में उसे यह मालूम होना चाहिए कि वह यह क्यों कर रहा है और उसका उपयोग क्या है। अच्छी तरह से अंजाम दिया गया उपयोगी शारीरिक श्रम व्यक्ति के बौद्धिक विकास में सर्वाधिक योगदान करता है। ऐसे शारीरिक श्रम के माध्यम से विकसित बौद्धिक व्यक्ति को आसानी से पथ भ्रमित नहीं किया जा सकता और वह समाज के लिए बेहतर योगदान दे सकता है। गांधी के आश्रमों में सभी जगह बालकों की शिक्षा पर खास ध्यान दिया जाता था। गांधी के यहां बच्चों को पढ़ाना जीवन के दूसरों कामों से अलग कोई उपक्रम नहीं था, बल्कि उनके यहां आश्रम के जीवन में बच्चों को जिम्मेदार, अनुशासित सहभागी के रूप भागीदारी के अवसर दिए जाते थे। इस तरह बच्चे तमाम कामों में हाथ बंटाते हुए शिक्षित होते थे।

3.2 स्वावलंबी व्यक्ति का निर्माण

गांधी का स्वावलंबी व्यक्ति से आशय क्या है? क्या स्वयं अपनी आजीविका कमाने में आत्मनिर्भर व्यक्ति को ही उन्होंने स्वावलंबी माना है या उनकी स्वावलंबन की अवधारणा को किन्हीं व्यापक संदर्भों में देखा जा सकता है? इस स्वावलंबी व्यक्ति के निर्माण के लिए गांधी क्या रास्ता सुझाते हैं? उनके यह मानने के क्या आधार हैं कि आत्मनिर्भर और अहिंसक समाज के लिए अहिंसक आचरण वाले आत्मनिर्भर या

स्वावलंबी व्यक्ति की जरूरत होती है? यह स्वावलंबी व्यक्ति कैसे समाज को अहिंसक और आत्मनिर्भर बनाने में योगदान कर सकता है?

गांधी के शिक्षा दर्शन को नई तालीम या बुनियादी शिक्षा के नाम से जाना जाता है। सामान्यतः गांधी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी शिक्षा को करके सीखने या दस्तकारी की शिक्षा के सीमित अर्थों में लिया जाता है। मूलतः बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना करता है जो छोटे–छोटे आत्मनिर्भर समुदायों को मिलाकर बना है। गांधी के अनुसार भारतीय गांवों में इस तरह के आत्मनिर्भर सुमदाय बनने की प्रचुर संभावना है। बल्कि ऐतिहासिक रूप से भारतीय गांव ऐसे ही आत्मनिर्भर समाज हुआ करते थे और जरूरत गांवों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के साथ ही उनकी स्वायत्तता और राजनीतिक गरिमा को फिर बहाल करने की है। औपनिवेशिक शासन ने गांवों के आर्थिक ढांचे को तहस–नहस कर दिया और उसे शहरियों के द्वारा शोषण के लिए छोड़ दिया। औपनिवेशिक शासन से मुक्ति से ही गांवों का सशक्तिकरण होगा और वे आत्मनिर्भर समुदायों के रूप में विकसित हो सकेंगे। बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव गांवों को इस तरह विकसित करने के लिए बच्चों को इस तरह के प्रशिक्षण की तरफदारी करता है जिसमें बच्चों को उत्पादक कार्य करना सिखाया जाए और परस्पर सहभागिता पर आधारित समाज में जीने के तौर–तरीके सिखाए जाएं।

वे एक ऐसी व्यवस्था की सिफारिश करते थे, जिसमें आधुनिकता के परिणामस्वरूप गांवों में रहने वाली जनता को अपने हितों की रक्षा करने में तकलीफ न उठानी पड़े। ग्राम स्वराज का उनका प्रस्ताव ग्रामीणों के उत्पादों को मशीनीकरण के साथ प्रतिस्पर्द्धा से बचाने का प्रयास करता है तो बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव ऐसे समाज में बच्चों की उत्पादकता को बढ़ाने में योगदान करता है। इस तरह गांधी के यूटोपिया में एक छोटे समुदाय में रहने वाले उद्यमी, स्वाभिमानी और स्वावलम्बी व्यक्ति की परिकल्पना की गई थी।

गांधी के अनुसार आजीविका–कौशल निश्चय की बुनियादी शिक्षा का अनिवार्य हिस्सा है – लेकिन उसका वास्तविक उद्देश्य एक ऐसे स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण करना है, जिसका अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ – प्राकृतिक और मानवीय दोनों तरह के परिवेश के साथ – अहिंसात्मक और सृजनात्मक रिश्ता हो। गांधी की स्वावलंबी व्यक्ति की अपनी अवधारणा को उपरोक्त कथन से समझा जा सकता है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसे ही व्यक्ति का विकास है। इस स्वावलम्बी व्यक्ति के निर्माण के लिए यह भी जरूरी है कि वह अपने सीखने की प्रक्रिया में भी आत्मनिर्भर हो अर्थात शिक्षार्थी हाथ के हुनर को न सिर्फ सीखे बल्कि इतनी कुशलता के साथ सीखे की उसके माध्यम से अपनी शिक्षा का खर्च भी वह स्वयं उठा सके। साधन और साध्य यदि एक हैं तो आत्मनिर्भर व्यक्ति और समाज का साध्य निश्चित करने वाली शिक्षा को अपनी प्रक्रिया में भी अहिंसक और आत्मनिर्भर होना होगा।

3.3 साक्षरता और शिक्षा

जाहिर है गांधी के विचारों में दस्तकारी, हाथ के काम और समाज के लिए उपयोगी श्रम का बहुत अहम् स्थान है। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गांधी शिक्षा में अक्षर ज्ञान या पढ़ने और लिखने के महत्व को किस तरह देखते थे? क्या वे उसकी आवश्यकता और अनिवार्यता को स्वीकरते थे? हिंद

स्वराज में शिक्षा के बारे में विचार करते हुए गांधी पूछते हैं शिक्षा का अर्थ क्या है? फिर वे स्वयं ही इसके जवाब में कहते हैं ''अगर शिक्षा का अर्थ केवल अक्षर ज्ञान है तब तो वह एक औजार हुआ जिसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। जिस औजार से नश्तर लगाकर रोगी का रोग दूर किया जाता है उसी से किसी की जान भी ली जा सकती है। यही बात अक्षर की है। हम देखते हैं कि इसका दुरुपयोग अधिक लोग करते हैं, सदुपयोग थोड़े ही करते हैं। यह बात सही है तो इससे यह साबित होता है कि अक्षरज्ञान से दुनिया को फायदे की बनिस्बत नुकसान ही अधिक हुआ है।

शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षरज्ञान ही होता है। लड़कों को पढ़ना–लिखना और हिसाब लगाना सिखा देना प्रारंभिक शिक्षा कहलाता है। एक किसान ईमानदारी से खेती–किसानी करके अपनी रोटी कमाता है। उसे दुनिया का सामान्य ज्ञान है। अपने मां–बाप, स्त्री, अपने बच्चों के साथ वह किस तरह व्यावहार करे, जो लोग उसके गांव में बसते हैं उनके साथ कैसी राह–रस्म रखे, इस सबका उसे पूरा ज्ञान है। सदाचार के नियमों को वह समझता है, पर उसे दस्तखत करना नहीं आता। ऐसे आदमी को आप अक्षरज्ञान करा के क्या कना चाहते हैं? इससे उसके सुख में कौन सी वृद्धि करेंगे? आप उसके ह्रदय में अपने झोंपड़े और अपनी दशा के प्रति असंतोष पैदा करना चाहते हैं? यह करना हो तो उसे अक्षरज्ञान कराने की जरूरत नहीं है। पश्चिमी विचारों के प्रवाह में पड़ कर हम हमने इतना तो याद कर लिया कि सबको पढ़ना–लिखना सिखा देना चाहिए, पर उसके हानि–लाभ का विचार नहीं करते।

अब ऊंची शिक्षा को ही लीजिए। मैंने भूगोल पढ़ा, खगोल पढ़ा, बीजगणित सीखा, भूमिति का ज्ञान प्राप्त किया, भूगर्भ विद्या के गर्भ में प्रवेश किया। पर इन सबसे मैंने अपनी या अपने आस–पास वालों की कौनसी भलाई की? मैंने यह सारा ज्ञान किसलिए प्राप्त किया? अंग्रेज विद्वान प्रोफेसर हक्सले ने शिक्षा के विषय में कहा है– ''सच्ची शिक्षा उस आदमी को मिली है जिसका शरीर ऐसा सधा हुआ है कि उसके अंकुश में रहता है और सौंपे हुए काम को आसानी से और प्रसन्नतापूर्वक करता है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, शांत और न्यायदर्शी है, जिसका मन प्रकृति के नियमों और ज्ञान से भरपूर है, जिसकी इंद्रियां उसके वश में हैं, जिसकी अंतर्वृत्ति विशुद्ध है, जिसे बुरे कामों से नफरत है और जो दूसरों को भी अपने ही जैसा समझता है। ऐसे ही आदमी को सच्ची शिक्षा मिली हुई कह सकते हैं, क्योंकि वह प्रकृति के नियमों के अनुसार चलता है। वह प्रकृति का अधिकतम उपयोग करेगा और प्रकृति उसका।''

अगर सच्ची शिक्षा यही है तो मुझे शपथपूर्वक कहना चाहिए कि जिन शास्त्रों के मैंने ऊपर नाम गिनाए हैं उनसे अपने शरीर या इंद्रियों को बस में करने में मैं कोई मदद नहीं ले सकता। अतः प्रारंभिक शिक्षा हो या उच्च शिक्षा, उनमें हमें उस कार्य में सहायता नहीं मिलती जो हमारा असल काम है। उनसे हम मनुष्य नहीं बनते, अपना फर्ज नहीं पहचान पाते।

गांधी ने अक्षर ज्ञान को हर स्थिति में निंदनीय नहीं माना है। वे कहते हैं 'मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूं कि हमें उस ज्ञान का अंधभक्त नहीं हो जाना चाहिए, वह कुछ हमारी कामधेनु नहीं है। वह तो अपनी जगह पर ही शोभा दे सकता है। यह वह जगह सह है जब हम अपनी इंद्रियों को वश में कर लें, अपनी नीति की नींव दृढ़ कर लें, तब हमें अक्षरज्ञान की इच्छा हो तो उसे प्राप्त कर हम उसका दुरुपयोग अवश्य कर सकते हैं। आभूषण के रूप में वह हमें सजा सकती है। पर अक्षरज्ञान का यही उपयोग हो तो

ऐसी शिक्षा को हमारे लिए अनिवार्य कर देने की आवश्यकता नहीं रहती। इसके लिए तो हमारी पुरानी पाठशालाएं ही काफी हैं। नीति की शिक्षा को उनमें पहला स्थानी दिया गया है। वही प्रारंभिक शिक्षा है। उस नींव पर जो इमारत खड़ी हो जाएगी, वह टिकाऊ होगी।'

3.4 ग्राम स्वराज

गांधी एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना करते थे तो छोटे–छोटे आत्मनिर्भर समूहों से मिल कर बना हो। उनके अनुसार भारतीय गांवों में ऐसे समुदाय बनने की संभावना मौजूद है। इतना ही नहीं भारतीय गांव ऐसे ही आत्मनिर्भर समुदाय हुआ करते थे और आज जरूरत उनके उस स्वरूप को फिर से हासिल करने या उनके संरक्षण की है, जिसमें वे आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ ही राजनीतिक गरिमा भी प्राप्त कर सकें। उनका यह मानना था कि औपनिवेशिक सत्ता ने अपने हितों को साधने के लिए गांवों का गांवों का शोषण किया और उनकी आत्मनिर्भरता को छिन्न–भिन्न कर दिया और उन्हें शहरों का मोहताज बना दिया। आजादी गांवों को फिर आत्मनिर्भर बनाएगी और बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम का उद्देश्य गांवों को स्वावलंबी बनाना और उनका सशक्तिकरण करना होगा। इसके लिए वे बच्चों को ऐसी शिक्षा देने की हिमायत करते हैं जो उन्हें ऐसे सहभागितापूर्ण समुदाय में रहने के लिए तैयार कर सके।

उन्होंने बुनियादी शिक्षा के अपने प्रस्ताव में दस्तकारी को स्कूल की पाठ्यचर्या में अनिवार्य रूप से शामिल किए जाने पर जोर दिया। उनके यहां दस्तकारी एक गैर शैक्षणिक गतिविधि के रूप में नहीं बल्कि स्कूल के शैक्षणिक कार्यक्रम की धुरी के रूप में प्रस्तावित की गई। गांधी के शिक्षा दर्शन पर विचार करते हुए कृष्ण कुमार कहते हैं, ''इसके निहितार्थ सिर्फ स्कूली व्यवस्थाओं में बदलाव तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि इन्हें अपनाने का मतलब भारत के समाजिक ढांचे में भी बदलाव की सिफारिश करना था। भारत में अब तक दस्तकारी से जुड़े पेशों को जातिय व्यवस्था में निम्नतर दर्जों पर रखा गया था। जैसे रुई की धुनाई, कपड़े की बुनाई, चमड़े के काम, मिट्टी के बरतन बनाने का काम, ठठेरों का काम, डलिया बनाने जैसे पेशों को जातिगत दृष्टि से कमतर मानी गई जातियों के जिम्मे थे। यहां तक कि इनमें से कुछ जातियों को अस्पृश्य तक माना गया था। भारतीय परम्परा में पढ़ने–लिखने को उच्च जातियों का विशेषाधिकार माना गया था और अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के केंद्र में भी साक्षरता को ही स्वीकारा गया था। गांधी के बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में इस जातिय व्यवस्था में निचले पायदान से आने वाले बच्चे को केंद्र में रखा गया और इस तरह सामाजिक ढांचे को सिरे से पुनर्गठित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।''

3.5 मशीन और औद्योगिकरण बनाम हाथ का काम

गांधी आद्योगिकरण के दौर में इस कार्यक्रम को प्रस्तावित कर रहे थे। मशीनों के प्रति गांधी के नकार को सभी जानते हैं, लेकिन यह नकार उनके शिक्षा संबंधी विचारों पर क्या असर डालते हैं? गांधी द्वारा प्रस्ताविक शिक्षा व्यवस्था औद्योगिकरण से उपजी चुनौतियों से जूझने के लिए क्या रास्ता सुझाती हैं? क्या शिक्षा के यह प्रस्ताव किसी खास मकसद को सामने रख कर विकसित किए गए थे?

गांधी ने पूरब और पश्चिम के द्वंद से अलग हट कर भारतीय शिक्षा दर्शन की बात की और उन्होंने बहस के केंद्र में मानव और मशीन के बीच के द्वंद को रखा। उनका कहना था कि आधुनिक मशीनी सभ्यता का कोई नैतिक आधार नहीं है और अंततः वह सर्वनाश की ओर ले जाने वाली है। स्वयं गांधी भी एक सीमा तक मशीन के उपयोग से सहमत थे, जैसे कि वे मानते थे कि सिलाई मशीन की मदद से हाथ की तुलना में ज्यादा उत्पादन किया जा सकता है, लेकिन वे मशीन के आधीन हो जाने का विरोध करते थे। वे मानवीय श्रम और प्राकृतिक संपदा पर मशीन के हावी हो जाने के खिलाफ थे। मशीन के उपभोक्तावादी और शोषणकारी चरित्र के साथ उनका विरोध था।

गांधी औद्योगिकरण को मनुष्य जीवन के लिए एक चुनौती के रूप में देखते थे। तकनीक के बारे में गांधी के विचारों पर काफी बहस होती रही है। गांधी के शिक्षा दर्शन पर विचार करते हुए शिक्षाविद कृष्ण कुमार कहते हैं कि ''इस बारे में स्पष्ट तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता कि गांधी मूलतः विज्ञान और प्रोद्यौगिकी के ही खिलाफ थे या फिर वे उस पश्चिमी आधुनिकता के खिलाफ थे जो विज्ञान और प्रोद्यौगिकी को गैर युरोपीय समाजों के शोषण की छूट देती है। उनके लेखन विविध संदर्भों में व्यक्त विचारों को एक साथ रख कर देखने पर ऐसा लगता है कि वे कुछ हद तक दोनों की ही खिलाफत करते हैं। संभवतः गांधी से इस बार में कोई एक पक्ष लेने की उम्मीद करना ही गलत है।'' वे भारत को पहले राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर देखना चाहते थे, ताकि वह पश्चित से आने वाली औद्योगिक और पूंजीवादी ताकतों का मुकाबला करने में स्वयं समर्थ हो सके।

गांधी पहले एक ऐसी आत्मनिर्भर राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे, जिसके मूल में आत्मनिर्भर गांव का विचार और और मशीनी उत्पादन उनकी वरीयता सूची में नीचे के पायदानों पर आता था। वे एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का सपना देखते थे, जिसमें आधुनिकता की चुनौतियों के आगे जन सामान्य को अपने हितों की रक्षा करने की ताकत मिल सके। उनकी शैक्षणिक योजनाएं उनके इस सपने को पूरा करने के पैमानों पर खर उतरती हैं। यदि औद्योगिकरण कर रफ्तार को कम कर दिया जाए और सामाजिक और राजनीतिक विकास को ध्यान में रखते हुए दिशा दी जाए, तो बुनियादी शिक्षा इस लक्ष्य को पाने में निश्चय ही महत्वपर्णू भूमिका निभा सकती है। यदि औद्योगिकरण को इस तरह दिशा दी जाए कि वह ग्रामीण उत्पादकों के सामने चुनौती खड़ी न करे तो बुनियादी शिक्षा ग्रामीण बच्चों को ऐसी व्यवस्था में अपनी जगह बनाने में सक्षम बनाती है।

3.6 शारीरिक श्रम

गांधी ने शिक्षा को श्रमशील लोगों के नजरिए से देखा। वे यह मानते थे कि श्रमिक परिवारों के बच्चे बहुत उत्साह के साथ काम–काज में अपने माता–पिता का हाथ बंटाते हैं। वे जानते हैं कि काम के बिना रोटी नहीं मिल सकती। गांधी के अनुसार 'शारीरिक श्रम का तात्पर्य स्कूल के संग्रहालय के लिए वस्तुएं अथवा खिलौने तैयार करना नहीं है जिनका वास्तविक कोई मूल्य न हो। बच्चे बाजार में रखे जाने

लायक वस्तुएं तैयार करें। बच्चों का यह काम इस तरह नहीं सीखना है जैसे किसी फैक्टरी में शुरुआत में मालिक के चाबुक के डर से वे सीखते हैं, बल्कि वे स्वयं इस तरह काम करने में आनंद का अनुभव करें तथा इससे उनका बौद्धिक विकास हो।' उनका मानना था कि इस तरह से तैयर बच्चा आत्मनिर्भर होगा और आत्मविश्वास से भरपूर होगा। इस तरह वह स्कूल और घर के बीच निरंतरता बनाए रख सकेगा।

गांधी का मानना था कि मौजूदा शिक्षा व्यवस्था में तीन बड़ी खामियां हैं– 1. यह विदेशी संस्कृति पर आधारित है, जिसमें उपनी संस्कृति को पूरी तरह दरकिनार किया गया है, 2. यह भावनाओं तथा हाथ के हुनर की उपेक्षा करती है, और सिर्फ दिमाग से जोड़ती है और 3. वास्तविक शिक्षा किसी भी विदेशी माध्यम से पाना असंभव है। गांधी की शिक्षा प्रणाली में लड़कों को खेलने की बजाय खेतों में हल चलाना सिखाने की सिफारिश की गई थी। उनका कहना था कि ''यह धारणा भ्रांत है कि हमारे लड़के क्रिकेट या फुटबाल नहीं जानेंगे तो उनका जीवन नीरस या उबाऊ होगा।'' वे तो यहां तक मानते हैं कि ''कढ़ाई एवं बुनाई जैसे ग्रामीण हस्तशिल्प के माध्यम से शिक्षा देने की मेरी योजना का उद्देश्य बहुत दूरदृष्टि के साथ गुपचुप सामाजिक क्रांति की प्रक्रिया की शुरुआत करना है।''

3.7 भाषा

भारत में अंग्रेजों द्वारा स्थापित शिक्षा व्यवस्था का एक उद्‌देश्य अंग्रेजी जानने वाले पढ़े–लिखे लोगों की एक ऐसी फौज तैयार करना था जो यहां अंग्रेजी राज को सुचारू ढंग से चलाने में मदद कर सके। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गांधी शिक्षा के माध्यम के रूप में किस भाषा के पक्षधर थे? अंग्रेजी भाषा में शिक्षण के वे समाज पर क्या असर देखते थे?

गांधी अंग्रेजी शिक्षा को देश में गुलामी की नींव मानते थे। हिंद स्वराज में भाषा के मसले पर चर्चा करते हुए वे कहते हैं ''अंग्रेजी पढ़ कर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी पढ़े हिंदुस्तानियों ने आम लोगों को ठगने और उन्हें डराने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। यह क्या कम जुल्म है कि अपने देश में काम पाने के लिए भी हमें अंग्रेजी का सहारा लेना पड़े।'' गांधी 14 साल तक के बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने नई तालीम में अंग्रेजी को कोई जगह नहीं दी है। वे अंग्रेजी को स्कूली शिक्षा के लिए माध्यम या अनिवार्य विषय, किसी भी रूप में शामिल करने के पूरी तरह खिलाफ थे। वे लिखते हैं कि भारत में प्रचलित तमाम अंधविश्वासों में इससे बड़ा कोई अंधविश्वास नहीं है कि जीवन में उदारता तथा विचारों में स्पष्टता लाने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अनिवार्य है।'' उनका कहना था कि अगर हम राष्ट्रीय स्तर पर आत्मघात करना नहीं चाहते हैं तो अंग्रेजी को हमें अपनी विचार प्रक्रिया का माध्यम बनाने से बचना होगा।

गांधी मातृभाषा को शिक्षा की नींव मानते हैं। उनके अनुसार मातृभाषा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा बच्चों को अपने देश के विचारों, भावनाओं और आकांक्षाओं की बहुत बड़ी विरासत हासिल होती है।

3.8 शिक्षक की स्वायत्तता और पाठ्‌यपुस्तक

शिक्षा से संबंधित किसी भी व्यवस्था की कल्पना को साकार करने में शिक्षक की अहम भूमिका होती है। यह शिक्षक ही है जो इस व्यवस्था को साकार करता है। गांधी की शिक्षा व्यवस्था में जहां स्वावलंबी व्यक्ति के निर्माण पर बहुत जोर दिया गया है, शिक्षक की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसे में यह जानना महत्वपूर्ण है कि गांधी के मन में शिक्षक की क्या अवधारणा कैसी थी? वे सीखने और सिखाने की प्रक्रिया में उसकी भूमिका को किस तरह देखते थे?

गांधी स्कूल में शिक्षक की जिस स्वायत्तता की बात करते हैं, वह भी तोल्सतोय के उदारवादी विचारों से मेल खाती है। गांधी शिक्षक को नौकरशाही की गुलामी से मुक्त रखने की तरफदारी करते हैं। औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था ने शिक्षक की भूमिका को नौकरशाहों द्वारा तैयार पाठ्यपुस्तकों में ठूंसे हुए ज्ञान को बच्चों तक हस्तांतरित करने वाले तक सीमित कर दिया था। पाठ्यपुस्तकों के इस्तेमाल की अनिवार्यता और शिक्षक की निरीह स्थिति से उत्पन्न स्थिति का खुलासा करते हुए गांधी ने लिखा, ''यदि पाठ्यपुस्तकों को शिक्षा के वाहक के रूप में देखा जाता है तब शिक्षक की जीवंत उपस्थिति का महत्व बहुत कम हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से पढ़ाने वाला शिक्षक बच्चों को अपनी मौलिकता हस्तांतरित नहीं कर सकता।'' गांधी की बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव शिक्षक को पाठ्यपुस्तकों पर निर्भरता से मुक्त करने के साथ ही उन्हें ज्यादा स्वायत्तता देने और पाठ्यचर्या के निर्धारण में भी उनकी भागीदारी की तरफदारी करता है। इतना ही नहीं गांधी जी का यह प्रस्ताव शिक्षक की कक्षा में भूमिका में राज्य के दखल को भी स्वीकारने से इनकार करता है। गांधी जी के यह प्रस्ताव राजनीतिक और सामाजिक जीवन में राज्य सत्ता के दखल को कमतर करने पर जोरे देते हैं।

गांधी परीक्षा केंद्रित किताबी शिक्षा और रटने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं। वे पाठ्यक्र में ज्यादा पुस्तकों को शामिल किए जाने का विरोध करते हैं। उनके अनुसार भारत जैसे गरीब देश में पुस्तकें बहुत सोच विचार कर लागू की जानी चाहिएं व उनकी संख्या कम होनी चाहिए, अन्यथा गरीब बच्चे शिक्षा अर्जित करने से वंचित रह जाएंगे। वे अपनी आत्मकथा में तोलस्तोय फार्म के अपने प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखते हैं ''पाठ्यपुस्तकों के लिए समय–समय पर शोर सुनाई देता है, मुझे उनकी जरूरत कभी नहीं पड़ी। जो पुस्तकें थीं उनका भी बहुत उपयोग करने का मुझे स्मरण नहीं है। हर एक लड़के को ज्यादा किताबें देना मुझे जरूरी नहीं दिखाई दिया। मेरी समझ में विद्यार्थी की पाठ्यपुस्तक शिक्षक ही होता है। .... बालक आंख से जितना ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा कान से सुना हुआ थोड़े परिश्रम से और बहुत ज्यादा ग्रहण कर सकता है।''

श्री अरविन्द घोष

जीवन –

श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त 1872 को कलकत्ता में हुआ था। इनके पिता का नाम डॉ. कृष्णधन घोष व माता का नाम स्वर्णलता देवी था। दार्जिलिंग के लोरेय कान्वेंट में दो वर्ष की प्रारंभिक शिक्षा के बाद उन्हें इंग्लैण्ड भेजा गया। वहाँ से उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे 1893 में स्वदेश लौटे।

बड़ौदा राज्य के विभिन्न विभागों में अपनी सेवाएँ देने के उपरांत वे बड़ौदा स्टेट कॉलेज में लेक्चरार भी रहे । 1905 से1910 तक उन्होंने सक्रिय राजनीति में भी भाग लिया। इस दौरान वे स्वाधीनता आंदोलन में एक वर्ष जेल में भी रहे । 1910 में वे पांडिचेरी गये एवं यहां पहूँचकर उन्होंने योग–साधना की । इस साधना से उनको परम शक्ति के दर्शन हुए और उनके जीवन में अभूतपूर्व बदलाव आया ।

अपना अंतिम समय पांडिचेरी के आश्रम में व्यतीत करते हुए 2 दिसंबर 1950 को उनका निधन हुआ।

शिक्षा दर्शन –

श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन–आध्यामिक साधना, बह्मचर्य और योग पर आधारित है। उनका विश्वास है कि इस प्रकार की शिक्षा से मानव का पूर्ण विकास किया जा सकता है । उनके अनुसार ज्ञान की अनेक कोटियाँ है और सर्वोच्च कोटि आध्यात्मिक अनुभूति है।

श्री अरविन्द के अनुसार अन्तःकरण शिक्षा का प्रमुख अंग है । उन्होंने अंतःकरण के चार स्तर बताये हैं – चित्त, मनस, बुद्धि और ज्ञान । उनके मतानुसार मानव की इन शक्तियों में क्रमिक विकास होता है । अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह इन शक्तियों को विकसित कर सके । केवल ज्ञान की प्राप्ति ही शिक्षा नहीं है, सच्ची शिक्षा वही है जिसमें मानव का पूर्ण विकास करने की क्षमता हो ।

शिक्षा का अर्थ –

श्री अरविन्द ने शिक्षा को अति व्यापक और गतिशील रूप दिया है उनका कहना है – "सूचनाओं का संग्रह मात्र शिक्षा नहीं है । सूचनाऍं ज्ञान की नींव हो सकती है । सूचनाएँ वह बिन्दु है जहां से ज्ञान को प्रारंभ किया जाए या नई खोजों को निकालना शुरू किया जाए । वह शिक्षा, जो अपने को ज्ञान देने तक सीमित रखती है, शिक्षा नहीं है ।"

श्री अरविन्द के अनसार – "शिक्षा–मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है। यह ज्ञान,चरित्र और संस्कृति का उत्कर्ष करती है ।"

शिक्षा का उद्देश्य –

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सर्वांगीण विकास करना है ताकि उनमें निहित दैवी सत्य को प्रापत करने के लिए इन्हें उपकरण के रूप में वे प्रयुक्त कर सकें । शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को स्वयं का समग्र रूप से विकास करने में सहायता देना है ताकि वे अपने आपको विश्व का एक अंग समझ सकें।

उनका कहना है – "बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अंतरंग औरा जीवन–पूर्ण है, उसको अभिव्यक्त करने वाली होनी चाहिए ।"

श्री अरविन्द ने शिक्षा के सामाजिक पक्ष को भी महत्वपूर्ण माना । वे एक दैवी समाज और दैवी मानव की कल्पना करते है, अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और समाज की दैवी पूर्णता को प्राप्त करना है । इस पूर्णता की प्राप्ति के लिए शिक्षा के उद्देश्यों को इन बिन्दुओं में रखा जा सकता है –

1. बालक की शारीरिक शुद्धि और उसके शरीर का पूर्ण तथा उत्तम विकास ।
2. बालक की चित्त संबंधी क्रियाशीलता को समुन्नत करके उसके अन्तःकरण का विकास।
3. बालक की स्नायु, चित्त और मन की शुद्धि करके उस तरह विकास कि वह अपनी इन्द्रियों का उचित प्रयोग कर सके ।
4. बालक की अभिरूचि के अनुसार उसकी स्मृति, कल्पना, चिंतन और निर्णय क्षमता का विकास कर उसका मानसिक विकास ।
5. बालक की प्रकृति, आदतों और भावनाओं को शुद्ध और संतुष्ट बनाकर नैतिकता का विकास ।
6. बालक की वैयक्तिक और प्रच्छन शक्ति (Individuality and Potentiality) को पूर्णता की ओर अग्रसर करके उसका आध्यात्मिक विकास ।
7. बालक को तथ्य संग्रह व निष्कर्ष निकालने का प्रशिक्षण देकर उसकी तर्कशक्ति का विकास ।

पाठ्यक्रम –

प्रारंभिक तथा माध्यमिक व उच्च स्तर पर पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय उन्होंने इस प्रकार निर्धारित किए –

1. **प्राथमिक शिक्षा** – मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, गणित और चित्रकला।

2. **माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा** – मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, सामाजिक अध्ययन, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान और चित्रकला।

शिक्षण विधि –

श्री अरविन्द "शिक्षण की क्रमिक विधि" के पक्ष में है । इस विधि में बालक को एक समय में एक अनेक विषयों की शिक्षा नहीं दी जाती है । उसे एक समय में केवल एक या दो विषय की शिक्षा दी जाती है। जब वह इन विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब इसी प्रकार उसे अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती है।

उन्होंने अपनी "क्रमिक शिक्षण विधि" को निम्नलिखित शिक्षण–सिद्धांतों पर आधारित किया है–

1. करके सीखना
2. बालक का सहयोग
3. बालक की स्वतंत्रता
4. प्रेम व सहानुभूति का प्रदर्शन
5. बालक की रूचियों का अध्ययन
6. शिक्षा का माध्यम – मातृभाषा
7. बालक के निजी प्रयास व निजी अनुभव को प्रोत्साहन
8. विषयों की प्रकृति के अनुसार बालक की शक्तियों का प्रयोग ।

शिक्षा का स्थान –

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षक *'इन्सट्रक्टर'* नहीं है । उसे बच्चों के पथ–प्रदर्शक और सहायक के रूप में कार्य करना चाहिए । वह मौन रूप से बालकों की अभिरूचियों का अध्ययन करके उसके अनुरूप शिक्षा की सामग्री का संकलन व प्रस्तुतीकरण करे । उसे स्वयं बालकों को ज्ञान देने का प्रयास नहीं करना चाहिए और न उन पर बाह्य ज्ञान को लादना चाहिए ।उसे यह प्रयास करना चाहिए कि बालक अपनी अभिरूचियों के अनुसार ज्ञान का अर्जन करते हुए स्वशिक्षा के पथ पर अग्रसर हो ।

श्री अरविन्द का कहना है – "शिक्षण राष्ट्रीय संस्कृति का चतुर माली होता है । वह संस्कार की जड़ों में खाद देता है और अपने श्रम से उन्हें सींच सींच कर महाप्राण शक्तियाँ बनाता है ।"

उनका यह भी कहना है कि – शिक्षक को अपने गुण दोषों का तटस्थ समीक्षक होना चाहिए।

श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन –

श्री अरविन्द ने अपने शिक्षा दर्शन में आध्यात्मिक उन्नति पर बहुत बल दिया है । उनके अनुसार – मानव विकास एक ऐसी अवस्था में आ गया है जहाँ बौद्धिक विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है । इसके आगे आन्तरात्मिक तता आध्यात्मिक विकास आता है। यदि मनुष्य इस ओर अग्रसर नहीं होता, तो उसका विकास केवल अवसर ही नही होगा बल्कि मनुष्य पतन की ओर अग्रसर नहीं होता, श्री अरविन्द इस बात से चिन्तित थे कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली मनुष्य का एकांगी विकास कर रही है । परिणामतः आध्यामिक विकास रूक गया है और उसके अंदर की दिक ज्योति बुझ गई है । उनके क्रांतिकारी मस्तिष्क में वर्तमान शिक्षा के विरूद्ध प्रतिक्रिया हुई ।

श्री अरविन्द के दर्शन में न तो प्राचीन भारतीय आदर्शों के प्रति पलायन है न पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण । उनमें दोनों ही विचारधाराओं का समन्वय मिलता है । आज हमारी शिक्षा प्रणाली में इस समन्वयात्मक विचार को अपनाने की आवश्यकता है ।

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई 5
पाश्चात्य शिक्षा चिन्तक

प्राचीन काल से ही पूरी दुनिया में दार्शनिक शिक्षा पर काफी गंभीरता से चिंतन करते रहे हैं और उनके विचार दस्तावेजों के रूप में उपलब्ध भी हैं। एक–दो वर्षों के पाठ्यक्रम में समस्त शिक्षा दार्शनिकों के विचारों को समझना असंभव काम है। अतः किसी भी पाठ्यक्रम में कुछ चुनिन्दा दार्शनिकों या विचारकों को ही रखा जा सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि शेष दार्शनिकों या विचारकों के विचार महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसका यह भी मतलब नहीं है कि इस अध्याय में शामिल किए गए शिक्षा दार्शनिकों के विचारों से सहमत हुआ ही जाए। इसका एक मकसद यह है कि, हम सिर्फ आज ही शिक्षा पर चिन्तन नहीं करते रहे हैं बल्कि शिक्षा समाज के साथ इस तरह जुड़ी हुई है कि समाज के बारे में सोचने वाले दार्शनिकों को शिक्षा पर भी सोचना पड़ता है। फिर यह भी जानना जरूरी है कि जब आज हम शिक्षा जैसे मुद्दे पर विचार कर रहे हैं तो इससे पहले नदी में कितना पानी बह चुका है और लोगों ने इस पर क्या–क्या सोचा है। हम उस परंपरा को जानना चाहते हैं जिसकी विकास यात्रा में हम आज यहां तक पहुंचे हैं क्योंकि मानव समाज किसी एक क्षण में घटित होकर इस स्थिति में नहीं पहुंचा है बल्कि विचार और चिन्तन की एक लम्बी परंपरा है जो आज को समझने में हमारी मदद कर सकती है।

इस इकाई में हम शिक्षा के बारे में चार महान दार्शनिकों जिन्होंने शिक्षा पर बहुत गहराई से विचार किया है, उनके विचारों को समझने की कोशिश करेंगे। इस अध्याय में शामिल किए गए दार्शनिक या शिक्षा शास्त्री हैं – प्लेटो, अल–गजाली रूसो और जॉन डिवी। ये चारों दार्शनिक चार अलग–अलग भौगोलिक क्षेत्रों और ऐतिहासिक काल से आते हैं – प्लेटो (470 बी. सी.) यूनान में, अल–गजाली (1058) ईरान में तथा जॉन डिवी (1856) में अमेरिका में हुए। इस अध्याय में इन चारों विचारकों के शिक्षा संबंधी विचारों की तुलना करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है क्योंकि ये सभी अलग–अलग भौगोलिक क्षेत्रों और सामाजिक परिस्थितियों में उपजे शिक्षा संबंधी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शिक्षा संबंधी विचारों और मान्यताओं पर देश, काल और परिस्थितियों का काफी गहरा असर होता है अतः यह स्वाभाविक ही है के इनके विचारों में अंतर हो। इसके बावजूद पाठकों को ऐसा लग सकता है की यह इन चारों दार्शनिकों के शिक्षा संबंधी विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन है क्योंकि यहां हमारे पास कुछ प्रश्न हैं और हम इन चारों दार्शनिकों के विचारों में उन प्रश्नों के उत्तर तलाशने की कोशिश करेंगे।

किसी भी देश में शिक्षा संबंधी विचारों और व्यवहारों पर उसके समाज कि संस्कृति, मूल्यों और मान्यताओं का प्रभाव होता है और कोई भी व्यक्ति शायद यह नहीं मानेगा के यूनान, ईरान और अमेरिका किसी एक काल में भी इन अर्थों में एक से हो सकते हैं। परन्तु शिक्षा की कुछ मूल सवाल हो सकते हैं जो सभी देश, काल और परिस्थितियों में समान रूप से पाए जाते हों। इस इकाई में हम उन्ही मूल सवालों के संबंध में इन चार महान दार्शनिकों के मतों को समझने की कोशिश करेंगे। इस आलेख में बातचीत करने के लिए जो ढांचा बनाया गया है वह शिक्षा के बारे में तीन सवालों का ढांचा है – क्यों, क्या और कैसे। दूसरे शब्दों में इस आलेख में हम इन तीन दार्शनिकों के मतानुसार शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षाक्रम का दायरा और शिक्षण के तरीकों को जानने–समझने की कोशिश करेंगे। इन तीनों मुद्दों पर चर्चा के क्रम में हम शिक्षा और समाज का रिश्ता, शिक्षा और जीवन मूल्यों का रिश्ता, शिक्षक और शिक्षार्थी का रिश्ता आदि को समझने की कोशिश करेंगे।

1. प्लेटो

आपने पिछले वर्ष के पाठ्यक्रम में प्लेटो के ज्ञान संबंधी विचारों के बारे में जाना है। प्लेटो की गिनती दुनिया भर के उन दार्शनिकों में होती है जिनके विचार अभी तक दार्शनिकों को प्रभावित करते रहे हैं। प्लेटो मात्र दार्शनिक, शिक्षा चिन्तक ही नहीं बल्कि राजनैतिक विचारक भी थे। एक अच्छे राज्य एवं समाज के लिए होना आवश्यक है, इस पर विचार करते हुए उन्होंने समाज और राज्य से जुड़े लगभग हर पहलु पर विचार किया है। इस अध्याय में हम उनके शिक्षा संबंधी विचारों को जानने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा क्या है ?

प्लेटो के अनुसार व्यक्ति को उसके ज्ञान और अनुभवों का समुचित उपयोग करना सिखाती है। शिक्षा दृष्टिहीन को दृष्टि प्रदान करने जैसी चीज नहीं है। शिक्षा के प्रति प्लेटो का दृष्टिकोण सीखने वाले को ज्ञान के स्रोत की तरफ मोड़ना है। सीखने का काम तो वह उन अन्तर्निहित क्षमताओं का प्रयोग कर स्वयं करता है। परन्तु यह उतना आसान भी नहीं है। बच्चों के सन्दर्भ में उनकी उदासीनता या प्रयास की कमी इसे और कठिन बना सकती है। प्लेटो के लिए शिक्षा में बच्चे की बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि शिक्षा बच्चे को बदलने की बजाय उसके विचारों, व्यवहारों, ज्ञान, सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं के एकरेखीकरण का कार्य करती है। परन्तु बच्चे की बुद्धि एक दुधारी तलवार की तरह है जो शिक्षा में मदद कर सकती है तो नुकसान भी कर सकती है और यह बच्चे की रुझान पर निर्भर करता है जिसे बनाना या बदलना शिक्षा का ही कार्य है। प्रत्येक बच्चे में सीखने की यह क्षमता होती है और यह सुनिश्चित करना की बच्चा इसका सही प्रयोग करे ताकि अपेक्षित परिणाम मिलें शिक्षा की जिम्मेदारी है। शिक्षा की इस मुश्किल सी दिखने वाली जिम्मेदारी को समझने के लिए और इसे पूरा करने के तरीकों को समझने के लिए प्लेटो अपनी राह से भटकी नदी की उपमा का इस्तेमाल करते है। उनका मानना है की राह से भटकी नदी को वापस अपनी राह पर लाने के लिए तटबंधों को मजबूत करने की बजाय नदी के रास्ते में आ गयी बाधाओं– कंकर, पत्थर, आदि को हटाना श्रेयस्कर होगा। यदि हम सिर्फ तटबंधों को मजबूत करने में लगे रहेंगे तो नदी में गहराई नहीं होने के कारण नदी का पानी बार–बार तटबंधों को अलग–अलग जगह से तोडता रहेगा। प्लेटो कहना यह चाह रहे हैं की व्यक्ति के त्रुटिपूर्ण विचारों और व्यवहारों पर अमल करने की बजाय हमें उचित विचारों और व्यवहारों को अधिक स्पष्ट, तर्कसंगत और आकर्षक बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ?

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को अपने विचारों और व्यवहारों को सही परिप्रेक्ष्य में देख और समझ पाने में सफल बनाना है ताकि वह इनके पीछे की मान्यताओं और न उनके पीछे के तर्कों को जांच और समझ सके। एक शिक्षित व्यक्ति को विवेकपूर्ण जीवन जीने के लिए तर्क करने में सक्षम होना चाहिए जो उसके जीवन में लिए गए निर्णयों और किये गए कार्यों को संचालित करेगा। क्या अच्छा है और क्या नहीं इसका ठीक जबाब शायद दुनिया का हर व्यक्ति ठीक–ठीक दे सकता है। वह यह ठीक–ठीक जबाब दे या नहीं यह अलग बात है। परन्तु उनसे जैसे ही ये प्रश्न किये जाते है के 'यह अच्छा क्यों है ?' या 'यह अच्छा क्यों नहीं है ?' वे अलग–अलग तरह की असंगत बातें करने लगते हैं और अंत में यह कहने को मजबूर होते दीखते हैं कि 'मैं ऐसा सोचता हूं' या मुझे लगता है की यह सही है', आदि। शिक्षा व्यक्ति को इन बातों के पीछे की मान्यताओं को देखने में सक्षम बनाती है और तर्क के आधार पर इन मान्यताओं को जांचने–परखने की योग्यता भी प्रदान करती है। शिक्षा सही अर्थों में व्यक्ति की अनुभव आधारित जिंदगी को तर्क आधारित जीवन में बदलने का कार्य करती है। और अनुभव से उपजा कोई भी ज्ञान तभी वस्तुनिष्ठ और सबके लिए उपयोगी हो सकता है जब वह तर्क पर आधारित हो और शिक्षा इसमें हमारी मदद करती है। शिक्षा का उद्देश्य वास्तव में व्यक्ति को धुंधलके से प्रकाश की ओर ले जाना, व्यक्तिनिष्ठता से वस्तुनिष्ठता की ओर ले जाना, व्यवहार से सिद्धांत की ओर ले जाना है।

शिक्षा और समाज का क्या रिश्ता है ?

कई विचारकों का ऐसा मत है की शिक्षा व्यक्ति को व्यक्तिगत सफलता, उपलब्धि और उनसे उपजने वाली खुशियों तक ले जाने का एक साधन है। उनका यह भी मानना है यह व्यक्तिगत विकास अंततः पूरे समाज के विकास की ओर ले जाएगा। प्लेटो धागे के दूसरे छोर को पकड़ते हैं। शिक्षा का उद्देश्य उनके लिए समाज का विकास है न की व्यक्ति का विकास। एक स्वस्थ एवं विकसित समाज ही इसके सदस्यों की खुशी और उनका विकास सुनिश्चित कर सकता है। प्लेटो जिस राज्य की कल्पना करते हैं उसका निर्माण शिक्षा के बिना संभव ही नहीं है। प्लेटो के राज्य में हर नागरिक तर्कसम्मत निर्णय लेने में सक्षम है जो एक शिक्षित व्यक्ति ही कर सकता है। यहां शिक्षा को सिर्फ स्कूली शिक्षा तक सीमित कर के नहीं देखना चाहिए।

क्या पढ़ाया जाना चाहिए ?

अरस्तू की ही तरह प्लेटो भी Trivium (व्याकरण, Rhetoric और तर्कशास्त्र और Quadrivium (अंक गणित, रेखागणित, खगोल विज्ञान और संगीत) पढाए जाने की बात करते हैं। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बच्चे को तर्कपूर्ण ढंग से सोचना सिखाना होना चाहिए जो उसे बीमार मानसिकता और अनुचित आचरण से बचा सके। गणित यहां विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यह बच्चे को सिर्फ और सिर्फ तर्क पर आधारित काम करना सिखाता है। गणित बच्चे को जो दिखाई देता है और जो है में अंतर करना सिखाता है। प्लेटो की प्रारंभिक (elementary) शिक्षा व्यवस्था में कहानियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि कहानियां बच्चों में सच्चाई, न्यायप्रियता, साहस आदि गुणों के विकास में सहायक होती हैं। प्लेटो कहानियों से होने वाले नुकसान के प्रति सजग हैं और बच्चों की इन कहानियों के चयन में सावधानी और नियंत्रण की बात करते हैं। कहानियों में कही गयी छोटी से छोटी बात या छोटी से छोटी घटना बच्चे की सोच को प्रभावित करती है। इसलिए यह आवश्यक है कहानियां चुनते हुए इन बातों को ध्यान में रखा जाये। एक और बात जिसपर प्लेटो का बहुत जोर है वह है अलग–अलग विषयों के अंर्तसंबंध जिसके बिना सारी शिक्षा और ज्ञान बिखरा–बिखरा सा रहेगा और इसका कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। स्कूली शिक्षण के पाठ्यक्रमों में नैतिक शिक्षा को लिखित रूप में स्थान तो दिया जाता है लेकिन व्यवहार में हम नैतिक शिक्षा के नाम पर या तो कुछ करते ही नहीं हैं या कुछ नीरस से पाठ बच्चों को पढ़ने पर मजबूर करते हैं। आमतौर पर हमारी धारना यह है, भले ही हम इसे स्वीकार न करें, कि बच्चों में नैतिक मूल्यों का विकास माता–पिता, परिवार और समाज की जिम्मेदारी है ना कि स्कूल की। प्लेटो की सोच यह है कि नैतिक मूल्यों का विकास विद्यालय की जिम्मेदारी है। जिन स्कूलों में नैतिक शिक्षा दी भी जाती है उनमें जिस तरह से यह शिक्षा दी जाती है उसमे परेशानियां हैं। हम बच्चों को सीधे–सीधे यह कहते हैं के ये काम ठीक हैं और इन्हें करना चाहिए अथवा ये काम ठीक नहीं हैं हमें ये काम नहीं करने चाहिए। कोई बात या काम क्यों ठीक है या क्यों ठीक नहीं है बच्चों से ये बातें करना हम जरूरी नहीं समझते। इसका असर हमें तब दिखाई पड़ता हैं जब बच्चे या तो नैतिकता की बातें अक्सर भूल जाते है या नैतिक बने रहना उनके लिए कठिन होता है। यह संभव है कि हमें यह तो पता हो कि औरतों के साथ भेदभावपूर्ण व्यावहार उचित नहीं है परन्तु हमारे व्यवहार में यह परिलक्षित नहीं होता। प्लेटो बच्चों से इन नैतिक प्रश्नों के पीछे की मान्यताओं पर बात करना चाहते हैं तथा कोइ भी नैतिक या अनैतिक कार्य करने या नहीं करने के परिणामों पर भी चर्चा करना चाहते हैं। अभी हम जिस तरह से नैतिक शिक्षा की बात करते हैं यह शिक्षा का एक अंग न होकर शिक्षा में अलग से जोड़ी हुई कोई चीज लगती है। यदि हम वाकई नैतिक शिक्षा के प्रति गंभीर हैं तो हमें इसे अन्य विषयों के साथ जोड़कर देखना होगा ना कि एक अलग विषय के रूप में जो शिक्षा के राज्य का तृतीय श्रेणी का नागरिक होगा।

पढाएं कैसे ?

प्लेटो बच्चों पर दबाब डालने की बजाय उन्हें तथ्यों की खोज की और प्रेरित करने और उस प्रक्रिया में शिक्षकों द्वारा उनकी मदद करने के हिमायती थे। शिक्षक बात–चीत के द्वारा उन्हें सही रस्ते पर आगे ले जा सकते हैं। प्लेटो के बारे में एक रोचक किवदंति है। एक बार प्लेटो किसी पार्टी में जा रहे थे, रास्ते में चलते हुए उनके मन में कुछ विचार आये और वो रूककर सोचने लगे जिसके वजह से वो पार्टी में देर से पहुंचे। जब गृहस्वामी को उनके देर से आने के कारण का पता चला तो उन्होंने प्लेटो को अपने पास बैठने के लिए कहा ताकि वो भी प्लेटो के उस महत्त्वपूर्ण विचार के भागीदार बन सकें। प्लेटो ने उत्तर में कहा "ऊष्मा तो गर्म से ठंढे की तरफ बहती है लेकिन ज्ञान और विचार भरे हुए से खाली की तरफ नहीं बहते"। इस किंवदंति से दो बातें स्पष्ट होती हैं : सीखना–सिखाना सिर्फ साथ–साथ होने की वजह से नहीं होता सीखने–सिखाने के लिए दोनों ही पक्षों को प्रयास करना पड़ता है, तथा ख) शिक्षा का मतलब शिक्षक के भरे हुए ज्ञान के घड़े से बच्चों के खाली घड़े में ज्ञान उड़ेलना नहीं है। प्लेटो का सिखाने का तरीका उस पारंपरिक तरीके से सर्वथा भिन्न है जिसमे शिक्षक छात्रों तक अपना ज्ञान प्रसारित करता है और छात्रों का काम सिर्फ उस ज्ञान को प्राप्त करना होता है। प्लेटो का सीखाने का तरीका 'Maieutic' तरीके के नाम से जाना जाता है जिसमे शिक्षक दाई की तरह बच्चे को ज्ञान की दुनिया में ले आता है। यह एक दूसरे के साथ अंतःक्रिया करने वाला तरीका है जिसमें छात्र और शिक्षक बातचीत के द्वारा मिलकर ज्ञान की खोज या निर्माण करते हैं। प्लेटो के सुकरात "मेनो" में कहते हैं कि "ज्ञान सिखाने से नहीं बल्कि प्रश्न करने से आएगा और इस ज्ञान की खोज या निर्माण सीखने वाला स्वयं करेगा"।

मूल्यांकन क्या है ?

हर काल में मूल्यांकन शिक्षा शास्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। मोटे तौर पर मूल्यांकन को तरह से समझा जा सकता है – क) क्या बच्चा वह सीख पाया जिसकी अपेक्षा थी ? तथा ख) क्या शिक्षक वह कर पाया जो करने की उसकी मंशा थी ? ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से अलग करके नहीं देखे जा सकते क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक हैं। प्लेटो के लिए बच्चों की अकादमिक उपलब्धियों और शिक्षक की सफलता या असफलता का पैमाना बच्चे का कोई विशेष जानकारी या कौशल हासिल करना नहीं हो सकता और इसीलिए उनकी शिक्षा दर्शन में किसी परीक्षा का कोई स्थान नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य बच्चे को कोई खास जानकारी देना या उसका कोई खास कौशल अर्जित करने की बजाय उसे जीवन की अलग–अलग परिस्थितियों का सामना करने के योग्य बनाना है। प्रचलित मूल्यांकन की बजाय प्लेटो व्यक्तित्व की दृढ़ता की जांच की बात करते हैं। चूंकि शिक्षा का अर्थ किसी खास विषय या विषय समूहों में बच्चे द्वारा जानकारी प्राप्त कर लेना या कौशल अर्जित कर लेना नहीं है। समय–समय पर बच्चे की जांच के आधार पर शिक्षण की सफलता या असफलता की जांच नहीं हो सकती। बच्चे की परिपक्वता, नैतिकता तथा दुनिया और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण की जांच शिक्षण की सफलता या असफलता का निर्णय करने का बेहतर आधार हो सकता है। आज की प्रचलित परीक्षा पद्धति बच्चे की इन क्षमताओं और योग्यताओं की जांच करने पूरी तरह से अक्षम है। इस तरह की जांच का कोई भी प्रयास शिक्षक और छात्रों के बीच कक्षा में होने वाली बातचीत के लगातार अध्ययन के बिना संभव नहीं हो सकता।

शिक्षक का दायित्व क्या है ?

शिक्षक के दायित्व के बारे में प्लेटो के विचारों को समझाने के लिए हम उनके द्वारा इस्तेमाल किये गए उपमानों का सहारा ले सकते हैं। प्लेटो शिक्षक के दायित्वों की बात करते हुए लोहे को आकार देने, सोयी हुई क्षमता को जगाने, वीणा के तारों को कसने और ढीला करने, खिलाने और भूखा रखने आदि

उपमानों का प्रयोग करते हैं। यदि हम पहले दो उपमानों की बात करें तो ये लोहे और क्षमता के पहले से होने की बात को स्वीकार करते हैं, और शिक्षक का कार्य इनको गढ़ना या एक दिशा देने का है ना कि कुछ नया पैदा कर देने का। अगले दो उपमान मध्यम मार्ग की बात करते हैं जहां वीणा के तारों को कसने तथा ढीला करने और भोजन देने तथा भूखा रखने की बात है। ये दोनों उपमान इस बात के तरफ भी इशारा करते हैं कि बच्चे को सब कुछ बता देने कि बजाय एक बैचेनी कि स्थिति में रखना चाहिए ताकि उसे छटपटाहट महसूस हो और वह उससे निकलने कि कोशिश करे। इस स्थिति से बाहर निकलने की प्रक्रिया ही बच्चे के सीखने के सिलसिले का निर्माण करेगी। प्लेटो के अनुसार बच्चों के साथ शिक्षक का व्यवहार न तो बहुत ही सख्त होना चाहिए और ना ही बहुत ढीला। यहां भी प्लेटो मध्यम मार्ग की हिमायत करते नजर आते हैं। वास्तव में प्लेटो बच्चे के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास की बात करते हैं जिसमे उसके तार्किक और भावनात्मक दोनों ही पक्षों का समुचित विकास हो और दोनों के एक दूसरे के साथ अंतःक्रिया कर एक दूसरे को आकार दें। यह पूरी प्रक्रिया बच्चे में सीखने और ज्ञान प्राप्त करने की लालसा को जन्म देगी जो शिक्षा का उद्देश्य है। प्लेटो बच्चे को धीरे–धीरे और धैर्यपूर्वक ज्ञान की दिशा में आगे बढाने की बात करते है। यदि शिक्षक बची के साथ कोई जोर जबरदस्ती करता है तो बच्चे में सीखने और ज्ञान प्राप्त करने के प्रति एक खास तरह की अरुचि पैदा हो सकती है जो शिक्षा के लिए बाधा का काम कर सकती है। जब तक बच्चे को ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया का अभ्यास ना हो जाय तब तक शिक्षक को उसकी मदद करनी चाहिए और धीरे–धीरे उसे स्वावलंबन की ओर ले जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि बच्चे को उसकी इच्छा के खिलाफ कुछ सीखने या करने को मजबूर किया जाता है तो न सिर्फ यह कठिन होगा, बल्कि मौका मिलते ही वह बच्चा इससे भागने कि कोशिश करेगा। सीखने कि यह प्रक्रिया बाहर लंबी नहीं चल सकती। प्लेटो सीखने–सीखाने की प्रक्रिया को बच्चे के लिए रोचक बनाना तो चाहते हैं लेकिन इस रोचकता का निर्माण सीखने–सिखाने के खेल से होना चाहिए ना कि उद्देश्य विहीन गतिविधियों से।

शिक्षा का सीखने वाले की उम्र से क्या रिश्ता है ?

बच्चे की शुरुआती शिक्षा को प्लेटो बहुत महत्व देते हैं क्योंकि इस दौर में मस्तिष्क पर पड़ने वाली छवियां आसानी से नहीं मिटती। आमतौर पर बच्चे की शुरुआती शिक्षा की जिम्मेदारी माता–पिता और परिवार की होती है लेकिन प्लेटो इसकी जिम्मेदारी स्कूलों और शिक्षकों पर डालते हैं। इस दौर में बच्चे के साथ एक संतुलित और अनुशासित व्यवहार कि आवश्यकता होती है। अतिशय उदार या अतिशय कठोर व्यवहार या तो बच्चे की उच्चखलता को बढ़ावा देगा या उसे अत्यंत भीरु बना देगा और दोनों ही परिस्थितियां सीखने–सीखाने में बाधा पैदा करेंगी। बच्चे की शिक्षा की शुरुआत प्लेटो उन कहानियों से मानते हैं जो बच्चों को बड़ों द्वारा घर–परिवार में सुनायी जाती हैं। इन कहानियों का बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण में काफी महत्वपूर्ण योगदान होता है और प्लेटो कहानियों की कथावस्तु के विवेकपूर्ण चयन पर बहुत बल देते हैं। कहानियों के अलावा बच्चों के खेल भी उनकी आरंभिक शिक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये कहानियां और खेल बच्चे की सोच, विचार, व्यवहार आदि को दिशा देने में मदद करते हैं जो आगे चलकर सीखने–सिखाने कि प्रक्रिया में सुविचारित तक्र करने में उनकी मदद करता है।

स्त्री शिक्षा : क्यों और कैसी ?

देश और काल के हिसाब से नारी शिक्षा के बारे में प्लेटो के मत को अतिवादी या उग्र सुधारवादी कहा जा सकता है क्योंकि वो पुरुष और स्त्री दोनो के लिए एक सी शिक्षा की बात करते हैं जबकि उस समय ज्यादातर लोग या तो स्त्रीयों की शिक्षा को आवश्यक ही नहीं मानते थे या उनके लिए एक अलग तरह की शिक्षा के पक्षधर थे। प्लेटो पुरुषों और स्त्रियों के शारीरिक अंतर को तो स्वीकार करते थे लेकिन इस अंतर को सार्वभौमिक नहीं मानते थे। उदाहरण के लिए आमतौर पर पुरुषों की लम्बाई स्त्रियों की तुलना में

ज्यादा होती है इसके बावजूद कुछ स्त्रियां कुछ पुरुषों से अधिक लंबी हो सकती हैं। इस शारीरिक अंतर को स्वीकार करने के बावजूद प्लेटो पुरुषों और स्त्रियों में वास्तविकता को समझने, उसके बारे में तर्कपूर्ण ढंग से सोच पाने और निर्णय ले पाने की क्षमता में किसी अंतर के होने की बात से इनकार करते हैं।

2. अल–गजाली

शिक्षा क्या है ?

"मिट्टी के अंदर बीज की तरह ज्ञान मनुष्य के अंदर होता है जो सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में आकार ग्रहण करता है।" "बच्चों को सीखाना वास्तव में खेत से अवांछनीय घास और खर–पतवार को निकालकर पौधों के स्वस्थ विकास को सुनिश्चित करने जैसा कार्य है."–– अल–गजाली

अल–गजाली के पहले उद्धरण में बच्चों की अन्तर्निहित क्षमताओं को स्वीकार किया गया है और पौधे के विकास के लिए आवश्यक गुणवत्तापूर्ण मिट्टी, उर्वरक, हवा और पानी की तरह शिक्षा में विद्यालय का वातावरण, पाठ्य सामग्री, शिक्षक एवं शिक्षण विधि की आवश्यकता की ओर इशारा किया गया है। दूसरा उद्धरण शिक्षा और शिक्षक के उत्तरदायित्वों की बात करता है जिसका काम बच्चों को सीखने के लिए उपयुक्त परिवेश उपलब्ध कराना और उन्हें अवांछनीय प्रभावों से बचाना है। इन दोनों उद्धरणों को यदि एक साथ मिलकर देखे तो शिक्षा एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें बच्चा अपने स्टार पर संघर्ष करता है और शिक्षक इस संघर्ष के लिए आवश्यक क्षमताओं के विकास में बच्चे की मदद करता है।

शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ?

अल–गजाली मूल रूप से एक धार्मिक और नैतिक चिन्तक थे न कि शिक्षा विचारक और शिक्षा संबंधी उनके विचार शिक्षा से जुड़ी हुई समस्याओं से उपजाने की बजाय उनके देश, काल और परिस्थितियों की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अल–गजाली के लिए मानव जीवन का उद्देश्य खुशी प्राप्त करना है जो इश्वर की निकटता में ही संभव है। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह धार्मिक व्यस्थाओं और निर्देशों का पालन आकर सके जिससे उसकी पारलौकिक खुशी और मुक्ति सुनिश्चित हो सके। शेष सारे भौतिक उद्देश्य जैसे धन प्राप्त करना, शक्ति प्राप्त करना, सत्ता प्राप्त करना आदि भ्रम मात्र है क्योंकि ये सारे उद्देश्य इस क्षणभंगुर दुनिया के हैं अतः ये सब तो शिक्षा के उद्देश्य हो ही नहीं सकते। यहां तक कि अल–गजाली ज्ञान प्राप्त करने को भी इन भौतिक उद्देश्यों की श्रेणी में रख देते हैं।

शिक्षा और समाज का क्या रिश्ता है ?

अल–गजाली की परिकल्पना का आदर्श समाज एक ऐसा समाज होगा जो पूरी तरह से शरिया के नियमों और कानूनों के अनुसार चलता हो लेकिन इस परिकल्पना के वास्तविकता में बदलने के संभावना को लेकर वो बहुत आश्वस्त नहीं थे। समाज व्यक्तिों से बनता है और व्यक्ति मूल रूप से नैतिक नहीं है। समाज और व्यक्ति के प्रति उनका निराशावादी और निषेधात्मक दृष्टिकोण उनकी इस बात से भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य का विकास समाज से अलग होकर बेहतर रूप से हो सकता है। इन सब के बावजूद वो यह भी मानते हैं के व्यक्ति के अस्तित्व का महत्त्व समाज के अस्तित्व की तुलना में काफी कम है। अल–गजाली की परिकल्पना का समाज विचार और शासन करने वालों तथा आज्ञा पालन करने वालों के दो वर्गों में बंटा हुआ है। इस दूसरे वर्ग की जिंदगी पूरी तरह से पहले वर्ग की मुट्ठी में होती है। धार्मिक और सैद्धांतिक प्रश्नों का निबटारा विद्वान और विचारक करते हैं जबकि राज्य और शासन से संबंधित भौतिक बातों का निर्णय शासक वर्ग करता है। सामान्य जनों के पास इन दोनों वर्गों की आज्ञा का पालन करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता। और अंततः यह समाज पूरी तरह से ईश्वरीय सत्ता के

अधीन होता है और उसके निर्देशों पर चलता है। इस समाज का एकमात्र उद्देश्य ईश्वरीय धर्म का पालन करना और लोगों को ईश्वर की आराधना के लिए सुविधाएं और अवसर प्रदान करना है। इस तरह के समाज में व्यक्ति समाज के उद्देश्यों की पूर्ति में मदद करने वाला एक औजार मात्र होता है और यहां शिक्षा के उद्देश्य काफी सीमित हो जाते हैं। यह सीमा अल–गजाली के व्यक्ति और समाज के रिश्ते की सोच की वजह से नहीं बल्कि उनकी समाज की परिकल्पना की वजह से आती है क्योंकि उनके समाज का उद्देश्य व्यक्ति का विकास होने की बजाय ईश्वरीय सत्ता को पुष्ट करना है।

क्या पढ़ाया जाना चाहिए ?

शिक्षा का अर्थ अल–गजाली के लिए सिर्फ मानव मस्तिष्क के प्रशिक्षण और सूचनाओं के संग्रहण तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसमें मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की परिकल्पना है जिसमे उसका शारीरिक, मानसिक, नैतिक और धार्मिक विकास शामिल है। सिर्फ सिद्धांतों की चर्चा या व्याख्या करने से आगे बढ़ाकर शिक्षा में उन सिद्धांतों को व्यवहारों में परिणत करने की भी बात होनी चाहिए। सीखना तभी सार्थक होता है जब अर्जित ज्ञान सीखने वाले के आचरण में परिलक्षित हो। अल–गजाली बच्चों को विन्रमता, ईमानदारी, आज्ञाकारिता, सहिष्णुता, सदाश्यता, स्वछता, नैतिकता आदि की शिक्षा देने की बात करते हैं। अल–गजाली का सूफी व्यक्तित्व उनके शिक्षा संबंधी विचारों को भी प्रभावित करता दीखता है जब वो बच्चे को दुनिया के आकर्षणों से दूर कर एक सरल जीवन बिताने की बात करते हैं। यहां एक बार फिर समाज के प्रति उनका निराशावादी और निषेधात्मक दृष्टिकोण सामने आता है। अल–गजाली ज्ञान को छः वर्गों में बांटते हैं : गणित, तर्कशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान, तत्वमीमांसा, राजनीति एवं नीतिशास्त्र। चूंकि गणित, तर्कशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान का धर्म से कोई विरोध नहीं है अतः इनका अध्ययन किया जाना चाहिए। परन्तु अल–गजाली की समस्या यह है कि जो कोई इनका अध्ययन करता है वह तत्वमीमांसा की तरफ जा सकता है जिससे बचना चाहिए। राजनीति और नीतिशास्त्र से अल–गजाली को कोई परहेज नहीं है लेकिन इनका अध्ययन करने वाले तत्वमीमांसा की और जा सकते हैं जो कि खतरनाक है। इस्लामिक शिक्षा व्यवस्था प्रारंभिक और उच्च शिक्षा को अलग–अलग देखती है। इस्लाम में प्रारंभिक शिक्षा का चरित्र पूरी तरह से धार्मिक है जिसमे बच्चों को कुरान के साथ धर्म के मूल सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती है। प्रारंभिक शिक्षा में बच्चों को पढाना–लिखना भी सिखाया जाता है। बच्चों का परिचय कविता, व्याकरण और गणित से भी कराया जाता है। नैतिक शिक्षा भी बच्चों के लिए आवश्यक मानी गयी है। अल–गजाली इस्लामिक प्रारम्भिक शिक्षा की इस व्यवस्था से पूरी तरह से सहमत हैं लेकिन उच्च शिक्षा की इस्लामिक व्यवस्था से उनके मतभेद भी हैं जहां वे धार्मिक शिक्षा के साथ–साथ भाषा विज्ञान, साहित्य और कविता की शिक्षा के हिमायती हैं। अल–गजाली उच्च शिक्षा में दर्शनशास्त्र, गणित, तक्रशास्त्र, चिकित्सा विज्ञान, खगोलशास्त्र आदि को शामिल करने की बात करते हैं। अल–गजाली ज्ञान के दो मुख्य भेद करते हैं : क) अनिवार्य ज्ञान जो सबों को प्राप्त होना चाहिए जिनमे धर्म, भाषा और साहित्य शामिल हैं तथा ख) वैकल्पिक ज्ञान जो सीखने वाले कि इच्छा और योग्यता के अनुसार मिलना चाहिए जिनमें गणित, चिकित्साशास्त्र, कविता, इतिहास आदि शामिल हैं। उनका यह मानना है कि धार्मिक शिक्षा सर्वोपरि है क्योंकि यही व्यक्ति को ईश्वर के करीब लाती है और खुशी का मार्ग दिखाती है और इस पूरी प्रक्रिया में समाज के लिए उचित प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अल–गजाली खेल–कूद को बच्चों के लिए जरूरी मानते तो हैं लेकिन इसका कारण यह नहीं है बच्चे खेल के दौरान भी कुछ सीखते है। खेल उनके विचार में बच्चों के लिए मनोरंजक

होते हैं और लगातार अध्ययन से बच्चे ऊब जाते हैं। संगीत, नृत्य और चित्रकला को समय की बर्बादी के रूप में देखा गया है और शिक्षा व्यवस्था में इनका कोई स्थान नहीं है जो कि इस्लामिक शिक्षा व्यवस्था से पूरी तरह से मेल खाता है।

पढाएं कैसे ?

अल–गजाली शिक्षण को एक महत्त्वपूर्ण कार्य मानते हैं और शिक्षक से यह अपेक्षा रखते हैं कि बच्चों से उनकी अपेक्षाओं और उनके स्वयं के व्यवहारों में कोई विरोधाभास न हो। सफल शिक्षण के लिए आवश्यक है कि शिक्षक बच्चों की क्षमता के अनुसार अपने शिक्षण को ढाल सके। अल– गजाली बच्चों में गला–काटू प्रतियोगिता/प्रतिस्पर्धा का विरोध करते हैं और अलग–अलग बच्चों को अलग–अलग गति से सीखने कि आजादी देने का समर्थन करते हैं। अल–गजाली कि दृष्टि में शिक्षा कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसमें शिक्षक बच्चों को कुछ ज्ञान दे देता है और वो उसे आत्मसात कर लेते हैं। शिक्षा वास्तव में सीखने–सीखाने की लगातार चलने वाली एक प्रक्रिया है जिसमे छात्र और शिक्षक साथ–साथ मिलकर जूझते हैं। परन्तु इसके लिए कक्षा में उचित माहौल और शिक्षक और छात्र के बीच उचित रिश्ते का होना अनिवार्य है। छात्रों के लिए शिक्षा की प्रासंगिकता और शिक्षण को छात्रों के परिवेश से जोड़ना अल–गजाली के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि शिक्षा उनके लिए ज्ञान या सूचना एकत्रित करने तक सीमित न होकर उसको कार्यरूप में परिणत करने तक जाती है। और यह तभी संभव है जब शिक्षा बच्चे के लिए प्रासंगिक और उसके परिवेश से जुडती हो।

शिक्षक का दायित्व क्या है ?

अल–गजाली वैयक्तिकृत शिक्षण युक्ति की बात करते हैं जिसकी चर्चा आज भी होती है। शिक्षक को छात्रों के स्वाभाव और उनकी क्षमता को ध्यान में रखते हुए उनके साथ काम करने की योजना बनानी चाहिए। निहितार्थ ये हैं कि सभी बच्चों का शिक्षण एक साथ, एक समूह में, एक तरीके से नहीं हो सकता। उनकी यह बात शिक्षा के अधिकार कानून के संदर्भ में काफी प्रासंगिक है। किसी भी बच्चे को यदि उसकी क्षमता से ज्यादा कार्य करने को मजबूर किया जाता है तो इसके प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं। परन्तु इस कारण से किसी दूसरे बच्चे को जिसकी क्षमता तुलनात्मक रूप से बेहतर है पीछे की ओर नहीं धकेला जा सकता। यह तो किसी बिना दांत वाले शिशु को बाजरे की रोटी और 32 दांत वाले स्वस्थ युवक को दूध में उबला हुआ चावल का घोल पिलाने जैसी बात होगी। अतः शिक्षक को बच्चों के स्वभाव और क्षमताओं को पहचान कर उनके लिए अलग–अलग योजना बनानी होगी और उनके साथ अलग–अलग समूहों में काम करना होगा।

शिक्षा का सीखने वाले की उम्र से क्या रिश्ता है ?

बच्चे का व्यवहार, उसकी विशेषताएं, और उसके व्यक्तित्व का निर्धारण एवं विकास जन्म होने के बाद समाज और परिवेश से होने वाली उसकी अंतःक्रियाओं से होता है। बच्चा परिवार से भाषा, रीति–रिवाज तथा धार्मिक परम्पराएं ग्रहण करता है जिनका असर उसपर पूरी जिंदगी बना रहता है। परिवार और माता–पिता के साथ–साथ जैसे ही बच्चा विद्यालय जाने लगता है यह जिम्मेदारी शिक्षक पर भी आ जाती है। बच्चे की आरंभिक शिक्षा का उसके चरित्र निर्माण पर गहरा असर पड़ता है। अल–गजाली

बच्चों की विशेषताओं को समझने की आवश्यकता पर बहुत बल देते हैं। वास्तव में वो शब्दों का इस्तेमाल किये बगैर माता–पिता तथा शिक्षक दोनों के लिए बाल मनोविज्ञान को समझने की जरूरत स्वीकार करते हैं। अल–गजाली बच्चों की अलग–अलग उम्र में अलग–अलग रुचियों की बात करते हैं और मानते हैं कि शिक्षक का इनके बारे में जानना बहुत जरूरी है। बच्चे के मानसिक विकास के अल–गजाली द्वारा बताए गए चरणों या उनके क्रमों या दोनों से ही असहमति हो सकती है लेकिन इससे शायद ही कोई असहमत होगा कि शिक्षण में इन चरणों का ध्यान रखा जाना चाहिए।

स्त्री शिक्षा : क्यों और कैसी ?

शिक्षा के संबंध में अल–गजाली के हवाले से जो भी बाते ऊपर की गयी हैं वो सब सिर्फ लड़कों की शिक्षा पर लागू होती हैं। लड़कियों के लिए अल–गजाली अलग तरह की शिक्षा की बात करते हैं। अल–गजाली औरतों के शिक्षा के अधिकार को स्वीकार तो करते हैं परन्तु उनके लिए शिक्षा की बात बहुत ही सीमित अर्थों में करते हैं। औरतों के लिए शिक्षा का अर्थ धर्म के मूल सिद्धांतों को जान लेने तक सीमित है। उन्हें ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। औरत को तब तक अपनी इच्छा से घर से बाहर निकलकर शिक्षा प्राप्त करने की कोई कोशिश नहीं करनी चाहिए जबतक उनके पिता या पति उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था करने से इनकार न कर दें। और पिता या पति जिस शिक्षा की व्यवस्था करेंगे वह सिर्फ धार्मिक शिक्षा होगी। अल–गजाली यहां साफ–साफ औरतों के लिए धर्म के ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान के सभी दरवाजे बंद कर देते हैं।

3. जीन जेक्स रूसो

शिक्षा क्या है ?

रूसों का कहना है – "सच्ची शिक्षा वह है, जो व्यक्ति के अंदर से प्रस्फुटित होती है । यह इसकी अन्तर्निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति है ।"

रूसों के अनुसार शिक्षा मनुष्य को विकसित कर मानव को मानव बनाती है । शिक्षा बच्चे को जीवित रखने की कला सिखाती है ।

शिक्षा का उद्देश्य क्या है ?

रूसो के अनुसार, जीवन का उद्देश्य आनंद–प्राप्ति है। वह इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बालक को जीवित रहने की कला सिखाना चाहता है। इस कला को सीखकर बालक चाहे मजिस्ट्रेट बने, चाहे सिपाही, चाहे पादरी, परन्तु वह सर्वप्रथम मानव ही रहेगा । इस प्रकार, रूसो ने मानव को मानव बनाना, शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया है। रूसो (Rousseau) ने लिखा है :– "मुझे इस बात से कोई प्रयोजन नहीं है कि मेरा "शिष्य सेना, चर्च या न्यायालय में काम करेगा । इससे पहले कि वह अपने माता–पिता के व्यवसाय को करने का विचार करे, प्रकृति चाहती है कि मनुष्य बने । मैं उसे यह शिक्षा देना चाहता हूँ कि जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जाना चाहिए । मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझसे शिक्षा प्राप्त करने के बाद, वह सबसे पहले मनुष्य बनेगा, न्यायाधीश, सैनिक या पादरी बाद में । वह वैसा ही होगा, जैसा कि मनुष्य को आवश्यकता पहले पर होना चाहिए । भाग्य द्वारा उसकी स्थिति को बदलने का प्रयास व्यर्थ होगा, क्योंकि वह सदैव अपनी स्थिति में रहेगा ।"

अतः रूसो के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य – मनुष्यत्व को विकसित करना है । इस उद्देश्य में उसके दर्शन के आदर्शवादी तत्वों की झलक मिलती है । इसी कारण रस्क (Rusk) ने उसे एक महान् आदर्शवादी माना है ।

शिक्षा और समाज का क्या रिश्ता है?

रूसों ने वास्तविक जीवन में बचपन से ही जिन परिस्थितियों का सामना किया उससे उनके मन में उठी प्रतिक्रिया समाज के प्रति उनके विद्रोहात्मक विचारों के रूप में सामने आई । जीवन में विभिन्न परिस्थितियों –माता के स्नेह से वंचित होना, पिता के कठोर दण्ड का भागी बनना विद्यालय की कृत्रिमता एवं शिक्षकों द्वारा निर्दयता से पीटा जाना, आवारागर्दी का जीवन बिताना आदि ने उसके हृदय में समाज एवं सभ्यता के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी थी । जब वह इन परिस्थितियों से विचलित हो उठा, तब उसे केवल प्रकृति की गोद में ही सान्त्वना प्राप्त हुई ।

रूसो ने प्रकृति को सभी गुणों से सम्पन्न माना है । उनकी कहना है कि प्रकृति की गोद में ही सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है, क्योंकि समाज में कृत्रिमता एवं असमानता है । उसके अनुसार सभ्यता का विकास मनुष्य को अधोगति की ओर ले जाने वाला है । जैसे–जैसे समाज का विकास होता जाता है, वैसे–वैसे मानव–समाज के विभेद एवं विषमता आती जाती है । अतः मनुष्य को इस अधोगति से बचने के लिए प्रकृति की ओर लौटना चाहिए । इसी कारण उसने *'प्रकृति को ओर लौटो'* का नारा लगाया किन्तु *'प्रकृति की ओर लौटो'* का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करते हुए राइट ने लिखा है – हम अभिमान को त्याग सकते है, इस दूसरों के साथ तुलना करना छोड़कर केवल अपने ही कार्य में लगे रह सकते हैं । हम बहुत सी काल्पनिक इच्दाओं को त्याग कर केवल आवश्यकता की वस्तुओं तक स्वयं को सीमित रख सकते हैं । इम मायामय संसार को त्यागकर अपने आप को पूरा प्राप्त कर सकते हैं । हम विनम्र हो सकते हैं और अपनी आत्म को प्राप्त कर सकते है। सरांश में *'प्रकृति की ओर लौटो'* इस प्रसिद्ध वाक्य का यही तात्पर्य है ।

स्पष्ट है कि रूसो–मनुष्य को जंगली अवस्था में नहीं ले जाना चाहता है वरन् समाज की कृत्रिमता एवं विषमता को दूर करना चाहता है, जो विज्ञान एवं सभ्यता की प्रगति के कारण उत्पन्न हो गई थी ।

"एमील" या शिक्षा रूसो का महान ग्रंथ है । उसने इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शिक्षा द्वारा किस प्रकार सामाजिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है। इसलिए, उसने इसमें तत्कालीन औपचारिक, कृत्रिम एवं परम्परागत शिक्षा की कटु आलोचना की और उस शिक्षा में सुधार करने के लिए प्राकृतिक सिद्धान्तों एवं धारणाओं का प्रतिपादन किया । उसने इस ग्रन्थ में यह भी प्रतिपादित किया है कि बालक की शिक्षा के लिए निषेधात्मक एवं प्राकृतिक नियमों को किस प्रकार व्यवहार में लाया जा सकता है । उसने इसमें एमील नामक एक काल्पनिक बालक की शिक्षा का वर्णन किया है, जिसको वह समाज से अलग एक आदर्श शिक्षक द्वारा शिक्षा प्रदान करवाता है ।

क्या पढ़ाया जाना चाहिए –

रूसो ने शिक्षा के तीन मूल स्रोत माने हैं – प्रकृति, मनुष्य तथा वस्तु । इसलिए, उसने इनसे सम्बन्धित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया है और शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विकास के विभिन्न स्तरों के लिए पृथक पाठ्यक्रम निर्धारित किया है । इस पाठ्यक्रम की रूपरेखा अग्रांकित है–

1. **शैशवावस्था के लिए पाठ्यक्रम** : यह अवस्था–शारीरिक विकास की है । इसके पाठयक्रम में शरीर को दृढ़ बनाने वाली क्रियाओं – खेल–कूद, घूमना–फिरना आदि को स्थान प्रदान किया गया है ।

2. **बचपन के लिए पाठ्यक्रम :** इस काल में बालक की इन्द्रियों के प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त क्रियाओं – खेल–कूद, नापना, गिनना, तोलना, निरीक्षण करना, संगीत, नृत्य, विभिन्न वस्तुओं एवं पदार्थों आदि को पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान किया गया है ।

3. **लड़कपन के लिए पाठ्यक्रम :** इस काल के पाठ्यक्रम के निर्धारण में उपयोगिता को आधार बनाया गया है। इसमें कला, भूगोल, दस्तकारी, प्राकृतिक विज्ञान तथा उन क्रियाओं को स्थान प्रदान किया गया है, जो बालक की विज्ञासा को सन्तुष्ट करता है ।

4. **किशोरावस्था के लिए पाठ्यक्रम :** इस स्तर पर पाठ्यक्रम में भाषा, साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शन, प्राकृतिक धर्म आदि को स्थान प्रदान किया गया है ।

पढ़ाएं कैसे –

रूसो, बच्चों को इस तरह का ज्ञान देना चाहता है, जो उनकी मूल प्रकृतियों, रूचियों तथा योग्यताओं के अनुकूल हो । उसका मत है कि बालक की रूचि के अनुसार उसे श्रम करने, अध्यवसायी बनने, अध्ययन करने, निरीक्षण करने तथा स्वानुभव करने का अवसर दिया जाता चाहिए। रूसो विषयों का ज्ञान प्रयोग, निरीक्षण, क्रिया एवं अन्वेषण द्वारा प्रदान किए जाने का पक्षपाती है । उन्होंने लिखा है– "अपने छात्र को मौखिक पाठ मत पढ़ाओ, उसे केवल अनुभव से सीखने दो । जब भी संभव हो, आप कार्य द्वारा पढ़ाएँ और शब्दों का सहारा केवल तभी लें, जब कार्य करना संभव न हो ।"

बालक की शिक्षा के संबंध में उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं –

1. बालक को बालक मानना, न कि लघु प्रौढ़ मानना ।
2. बालक को उसकी प्रकृति, योग्यता, क्षमता, आवश्यकता, रूचि एवं मनोवृत्तियों के अनुसार शिक्षा देना।
3. बाह्य प्रकृति के सम्पर्क द्वारा शिक्षा प्रदान करना ।
4. बालक के विकास के अनुसार उचित समय पर उचित शिक्षा देना ।
5. बालक के विभिन्न अंगों एवं शक्तियों का क्रमिक एवं स्वाभाविक विकास करना ।

शिक्षण–विधि :–

रूसो ने शिक्षण–विधि के उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिन पर आज का सम्पूर्ण शिक्षण–शास्त्र निर्भर है । इन सिद्धान्तों को आधार मानकर आज की क्रियात्मक विधियों की खोज की गई । ये सिद्धान्त इस प्रकार है :–

1. करके सीखना (Learning by doing)
2. निरीक्षण द्वारा सीखना (Learning by Observation)
3. अन्वेषण द्वारा सीखना (Learning by Discovery)
4. स्वानुभव द्वारा सीखना (Learning by Self-Experience)
5. प्रयोग द्वारा सीखना (Learning by Experimentation)

स्त्री शिक्षा – संदर्भ में रूसो के विचार संकीर्ण है । रूसो, नारी के लिए पुरूष के समान वैयक्तिक शिक्षा प्रदान करने का समर्थक नहीं है । वह नारी–शिक्षा का उद्देश्य–पुरूय के सुख–साधनों में वृद्धि करना मानता है । इस दृष्टि से, उसने नारी–शिक्षा के पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा, गृह शिक्षा, संगीत नृत्य,

सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, रूढ़िबद्ध धर्म, नैतिक शिक्षा, आज्ञाकारिता एवं बन्धनकारी बनने की शिक्षा, पुरूषों का अध्ययन आदि को स्थान प्रदान किया है ।

विद्यालय – विद्यालय की शिक्षा रूसो को अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी, क्योंकि इस समय की विद्यालय शिक्षा में कृत्रिमता वं कठोरता बहुत अधिक थी । इसके अतिरिक्त विद्यालय में अनुशासन की स्थापना हेतु कठोर दण्ड दिया जाता था ।

शिक्षा का सीखने वाले की उम्र से क्या रिश्ता है?

रूसो ने अपनी पुस्तक "एमिल" में लिखा है – "प्रत्येक प्रकार की शिक्षा के लिए एक नियत समय है और हमें उसके औचित्य को पहचानना है ।" उन्होंने शैशवकाल की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शारीरिक विकास माना है और इसके लिए माता का दायित्व महत्वपूर्ण है । शरीर को मजबूत बनाने के लिए बालक को पूरी स्वतंत्रता देने का उन्होंने समर्थन किया है । 4 से 12 वर्ष की आयु अर्थात बचपन को उन्होंने इन्द्रिय शिक्षा का काल माना है । रूसो का मत है कि इस काल में बालक को समाज की बुराईयों से बचाया जाना चाहिए । 12 से 15 वर्ष आयु को लड़कपन का काल उल्लेखित करने हुए उनका मानना है– "यह जीवन का वह काल है जिसमें ज्ञान के संचय पर अधिकतम बल दिया जा सकता है ।" बालक को प्रयोग, निरीक्षण, क्रिया व अन्वेषण से स्वानुभव द्वारा इस काल में सीखने का अवसर दिया जाना चाहिए । 15 वर्ष से विवाह के योग्य आयु 25 वर्ष तक के काल को उन्होंने किशोरावस्था कहा है । रूसो का कहना है कि इस आयु तक उसके शरीर, इन्द्रियों व मस्तिष्क का पर्याप्त रूप से विकास हो चुका होता है । इस समय बालक का मस्तिष्क नैतिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के अनुकूल होता है । अतः इस आयु में हृदय की शिक्षा आरंभ की जानी चाहिए

4. जॉन डिवी

शिक्षा क्या है ?

मानव इतिहास के अन्य पन्नों की तरह शिक्षा के इतिहास का पन्ना भी विरोधी विचारों के टकराहट की कहानी कहता है। शिक्षा में ऐसे दो विचार जो लगातार एक दूसरे से टकराते रहे हैं वो है क) शिक्षा बच्चे के आंतरिक गुणों को विकसित करने का नाम है तथा ख) शिक्षा बाहरी प्रयासों से बच्चे को सही स्वरूप में विकसित करने का नाम है। आज की शिक्षा बारे में यह कहना गलत नहीं होगा कि यह किताबों में संगृहीत ज्ञान को शिक्षक के माध्यम से बच्चों तक पहुंचाने की प्रक्रिया है। बच्चों के अनुभवों और शिक्षा के नाम पर कही जाने वाली बातों के बीच इतना फासला है कि स्वयं कुछ सीख पाने की कोई संभावना नहीं होती और शिक्षकों द्वारा ज्ञान को बच्चों पर थोपा जाना एक मजबूरी बन जाती है। डिवी के लिए शिक्षा बच्चों को सोचने, चीजों में अंतर आर पाने और निर्णय ले पाने योग्य बनाने की प्रक्रिया का नाम है। शिक्षा डिवी के लिए अच्छा जीवन जीने का माध्यम नहीं वरन् अछे जीवन का अनवार्य हिस्सा है। एक दूसरे का सम्मान, परस्पर सहयोग और सहानुभूति किसी भी समाज के लिए आवश्यक है और शिक्षा का दायित्व बच्चों में इन्ही गुणों का विकास करना है।

शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ?

डिवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बच्चे कि अन्तर्निहित क्षमताओं का विकास करना है जिनके द्वारा वह समाज को बेहतर बनाने में अपना योगदान कर सके। वो प्रचलित व्यक्तिवादी शिक्षा व्यवस्था से कतई सहमत नहीं है क्योंकि इससे बच्चों में भय, अस्वस्थ प्रतिद्वंद्विता तथा हीन भावना पैदा होती है। इस तरह

कि शिक्षा व्यवस्था न तो कमजोर को सबल बनाती है और ना ही सबल को सबल होने की खुशी देती है। इसकी बजाय यह कमजोर का आत्म–विश्वास तोड़ने का काम करती है और सबल अपनी सबलता की बजाय दूसरों की निर्बलता पर खुश होना सीखाती है। डिवी के लए शिक्षा का उद्देश्य बच्चों के प्रजातांत्रिक चरित्र का निर्माण करना है जिसकी पूर्ति के लिए विद्यालय का स्वरूप बच्चों के एक परिवार की तरह होना चाहिए जिसमे सभी बच्चे भाग लेते हैं और अपना योगदान करते हैं। इसमें बच्चों को बेहतर या कमतर आंकने की कोई जगह नहीं होती। इसका एकमात्र तरीका कक्षा–कक्ष में प्रजातंत्र की स्थापना करना है। शिक्षक और बच्चों का एक दूसरे के प्रति व्यवहार, कक्षा–कक्ष में लिए जाने वाले निर्णय और किये जाने वाले कार्य बच्चों में प्रजातांत्रिक मूल्यों के विकास का जरिया बन सकते हैं।

शिक्षा और समाज का क्या रिश्ता है ?

जॉन डिवी प्रजातंत्र के पैरोकार थे और प्रजातंत्र के स्थापना की कल्पना शिक्षा के बिना नहीं की जा सकती है। एक सुव्यवस्थित और सुविचारित जनमानस का निर्माण किए बिना नागरिकों को सिर्फ मतदान का अधिकार दे देने से प्रजातंत्र स्थापित नहीं हो जाता। और इस तरह के किसी जनमानस का निर्माण शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है। लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सरकार तभी अच्छी हो सकती है जब उन प्रतिनिधियों को चुनने वाली लोग शिक्षित हो। प्रजातंत्र किसी भी बाह्य सत्ता द्वारा आरोपित चीजों को स्वीकार नहीं करता परन्तु यह तभी संभव है जब सभी लोग स्वेक्षा से प्रजातांत्रिक मूल्यों का पालन करें। शिक्षा के आभाव में ऐसा होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। किसी भी समाज के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उस समाज के लोगों के बीच कुछ मूल बिंदुओं पर सहमति हो। प्राचीन काल में चूँकि लोगों के हित–अहित बहुत हद तक साझा थे अतः यह सहमति सहज रूप से बन जाती थी। जैसे–जैसे हमारा विकास होता गया और हमारे समाज और जीवन की जटिलताएं बढ़ती गई लोगों को एक ऐसी संस्था की जरूरत महसूस होने लगी जो इस कार्य को व्यवस्थित रूप से कर सके। विद्यालय एक ऐसी ही संस्था है जहां बच्चे साथ–साथ रहकर औपचारिक रूप से एक दूसरे के साथ अपने अनुभवों को बांटते हैं ताकि किसी भी मुद्दे पर एक आम राय बना सकें। जैसे–जैसे औपचारिक शिक्षण–प्रशिक्षण बढ़ता जाता है शिक्षा का बच्चों के वास्तविक अनुभवों से दूर होने का खतरा भी बढ़ता जाता है। तकनीकी और ज्ञान विस्फोट के वर्तमान युग में यह खतरा सबसे ज्यादा गंभीर है और यदि जीवन के वास्तविक अनुभवों और शिक्षा के बीच की इस बाध्यता खाई को पाटा नहीं गया तो विद्यालयों की विश्वसनीयता खतरे में पड़ सकती है।

क्या पढ़ाया जाना चाहिए ?

बीसवीं सदी के आखिर के वर्षों में पाठ्यक्रम–केंद्रित शिक्षण और बाल–केंद्रित शिक्षण संबंधी विचार आपस में टकरा रहे थे। पाठ्यक्रम–केंद्रित शिक्षण का समर्थन करने वाले एक सुव्यवस्थित एवं अनुशासित तरीके से बच्चों को उनके पूर्वजों द्वारा अर्जित और निर्मित ज्ञान देने की बात कर रहे थे जबकि बाल–केंद्रित शिक्षा का समर्थन करने वाले बच्चों के उन्मुक्त विकास की बात करते थे ताकि उनके अंदर की क्षमताओं का उचित विकास हो सके। पाठ्यक्रम–केंद्रित शिक्षा के समर्थक बाल–केंद्रित शिक्षा पर अराजकतावादी होने का इल्जाम लगाते थे जबकि बाल–केंद्रित शिक्षा के समर्थक पाठ्यक्रम–केंद्रित शिक्षा को नीरस, उबाऊ और तानासाही पूर्ण मानते थे। डिवी बच्चे के जीवनानुभवों को अर्जित ज्ञान से जोड़ने की बात करते हैं। वो पाठ्यक्रम को बच्चों के जीवनानुभवों से नहीं जोड़ पाने के लिए कटघरे में खड़ा करते है तो बच्चे के अनुभवों को पाठ्यक्रम से न जोड़ पाने के लिए बाल–केंद्रित शिक्षण की आलोचना करते हैं।

बच्चे के अनुभवों और बड़ों के ज्ञान को एक दूसरे का विरोधी मानना किसी वस्तु के निर्माण की प्रकिया और निर्मित वस्तु को एक दूसरे का विरोधी मानने जैसी बात है। इस समस्या के मूल में समाज का बचपन को जीवन का अलग और महत्त्वपूर्ण चरण मानने की बजाए इसे बड़ा होने की तैयारी के रूप में देखना है। इसी मानसिकता के तहत बच्चों से बड़ों के मूल्यों और व्यवहारों को सीखने और अपनाने की अपेक्षा की जाती है। ये मूल्य और यह मानसिकता बच्चों के अपने अनुभवों से आने की बजाय बड़ों द्वारा उन पर थोप दी जाती है। डिवी के विचारों में शिक्षा व्यवस्था में बच्चों के निजी अनुभवों और उनके बचपन को सम्मान दिया जाना चाहिए परन्तु साथ ही साथ समाज की उचित अपेक्षाओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। डिवी की शिक्षा की परिकल्पना एक ऐसे वृक्ष की तरह है जिसकी जड़ें बच्चे के वर्तमान में है और जिसकी शाखाएं अतीत और भविष्य दोनों दिशाओं की ओर जाती हैं। डिवी ज्ञान को किताबों से निकालकर बच्चों की दुनिया से जोड़ने की बात करते हैं। यह ज्ञान भी अंततः में मानव जाति के अनुभवों से ही उपजा था पर उनका इस हद तक अमूर्तिकरण हो गया है कि ज्ञान का संबंध अपने उद्गम स्रोत से ही टूट गया है। परंपरावादी सुव्यवस्थित तरीके से इस ज्ञान को शिक्षा के नाम पर बच्चों पर थोपना चाहते हैं लेकिन बच्चों के अनुभवों से इस ज्ञान को इस प्रकार जोड़ने की कोई बात नहीं करते ताकि बच्चे इसे समझ सकें और स्वयं ज्ञान का निर्माण कर सके जो बच्चों के लिए काफी आनंददायक होगा। बच्चों को स्वयं किसी समस्या का हल निकालने की बजाय हम उनको सब कुछ बात देना चाहते हैं और ऐसी शिक्षा उनके लिए हमेशा कष्टप्रद होगी। परिणामस्वरूप जब बच्चे ऐसी शिक्षा से विमुख होने लगते है तो हमें दंड और भय का सहारा लेना पड़ता है। पाठ्यचर्या केंद्रित शिक्षा का विरोध करने वालों का तर्क है कि बच्चों को क्या सिखाना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर उनके अनुभवों के आधार पर ही दिया जा सकता है. और चूँकि हम उनके अनुभवों की भविष्यवाणी नहीं कर सकते इसलिए हम एक पूर्व–नियोजित पाठ्यक्रम बना ही नहीं सकते। अनपेक्षित अनुभवों का पूर्व–नियोजित पाठ्यक्रम में समुचित उपयोग करना शिक्षा जगत की एक स्वीकृत मान्यता है। परन्तु यहां बात अनपेक्षित अनुभवों के उपयोग की बजाय अनपेक्षित अनुभवों को शिक्षा की दिशा तय करने का अधिकार देने की की जा रही है। डिवी यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा की शुरुआत संचित ज्ञान की बजाय बच्चे के अनुभवों से होनी चाहिए परन्तु वो यह भी कहते है कि इसकी दिशा संचित ज्ञान की और ले जाने वाली होनी चाहिए। उदाहरण के लिए आग की गर्मी का बच्चे के अनुभव से शुरुआत कर उसे आग की प्रकृति के ज्ञान तक ले जाय जा सकता है। डिवी एक ऐसी बाल–केंद्रित और गतिविधि–आधारित शिक्षा के कल्पना कर रहे हैं जो निरुद्देश्य न होकर योजनाबद्ध तरीके से बच्चे के अनुभवों को संचित ज्ञान से जोड़ती है। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि इन अनुभवों और गतिविधियों का उद्देश्य बच्चों को संचित ज्ञान तक ले जाना है तो फिर इन सब में इतना समय बर्बाद करने की बजाय क्यों न उन्हें सीधे संचित ज्ञान तक पहुंचा दें। इस सोच का परिणाम हमारी आज की शिक्षा व्यवस्था में देखने को मिलता है जो ऐसे नागरिकों का निर्माण कर रही है जो किसी भी चीज के बारे में सोच पाने, उनमें अंतर कर पाने और उचित निर्णय ले पाने में सक्षम नहीं हैं। किसी बात को जान लेने की बजाय उसको जानने का तरीका काफी महत्वपूर्ण है। यदि बच्चा अपने अनुभवों के आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुंचता है जो उसे पूर्व स्वीकृत ज्ञान से जोड़ता है तो उसे किसी चीज को खोज निकालने की खुशी होती है और यह खुशी उसे सोचने और बार–बार ऐसी खोज करने के लिए प्रेरित करती है। इसकी बजाय अगर वही ज्ञान उसे शिक्षक या किसी और व्यक्ति से स्वयं बिना कुछ किये मिल जाता है तो वह खोद कुछ करने की बजाय हर बार किसी और से मदद की अपेक्षा करने लगता है। डिवी, व्यावसायिक शिक्षा को

शिक्षा की मुख्य धारा से अलग करने के हिमायती नहीं थे। उनका मानना था कि यह एक अप्राकृतिक बंटवारा है जिससे यह बात झलकती है कि कुछ लोग एक तरह का काम कर सकते हैं और कुछ अन्य लोग दूसरी तरह का। इसका अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि कुछ लोगों को एक तरह का कार्य करना चाहिए और कुछ अन्य लोगों को दुसरी तरह का। इससे सोच का परिणाम है कि आज शारीरिक श्रम करने वालों को मानसिक कार्य करने वालों की तुलना में समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। डिवी की शिक्षा व्यवस्था में छात्रों को विषयगत ज्ञान के साथ–साथ शारीरिक श्रम और कार्य को सम्मान देना भी सिखाया जाएगा।

पढाएं कैसे ?

डिवी न तो किसी पुर्ननिर्धारित पाठ्यचर्या को बच्चों पर थोपने की बात करते हैं और ना ही बच्चों को अपनी पाठ्यचर्या निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देने का समर्थन करते हैं। डिवी बच्चों को जटिल परिस्थितियों में डालने की बात करते हैं जिनसे बाहर निकलने के लिए उसे भिन्न–भिन्न प्रकार के ज्ञान और कौशल की आवश्यकता पड़ेगी। पाठ्यचर्या इस बात का निर्धारण करेगा कि उसके पूरा होने के बाद बच्चे से किन क्षमताओं की अपेक्षा है। अब यह शिक्षक की जिम्मेदारी होगी कि वह बच्चे के पूर्व अनुभवों के ध्यान में रखते हुए बच्चे को दिए जाने वाले अनुभवों और बच्चे द्वारा की जाने वाली गतिविधियों कि ऐसी योजना बनाए ताकि उसमें अपेक्षित क्षमता का विकास हो सके। परन्तु इस कार्य को सफलतापूर्वक करने के लिए शिक्षक को न सिर्फ अपने विषयवस्तु की जानकारी होनी चाहिए बल्कि बाल मनोविज्ञान की भी समझ होनी चाहिए और साथ ही साथ उसको यह समझ भी होनी चाहिए कि कौन से अनुभव या गतिविधियां बच्चे की सोच पर कैसा असर डालेगी और उसे किस दिशा में ले जायेंगी। साफ–साफ कहें तो शिक्षक को शिक्षक और बच्चे दोनों कि तरह चीजों को देखना और समझना आना चाहिए। विद्यालय में आने वाला बच्चा कोरा नहीं होता। उसके पास चीजों को समझने, उसके बारे में सवाल कर या खोज–बीन कर जानकारियां इकट्ठी करने, अपने विचारों को गढ़ने, और उनका सम्प्रेषण करने की क्षमता होती है। इसके अतिरिक्त बच्चे अपने अनुभव और अपनी पसन्द–नापसंद को लेकर विद्यालय आते हैं और इन सबको पहचान कर शिक्षक की जिम्मेदारी उन्हें एक सही दिशा देने की होती है। सीखना एक मूल रूप से आत्मसातीकरण की प्रक्रिया है जिसकी शुरुआत सीखने वाले के अंदर से होती है अतः कितना और क्या सीखना है इन प्रश्नों का उत्तर सीखने वाले को ध्यान में रखकर दिया जाना चाहिए ना कि किसी पाठ्यचर्या के अनुसार. सीखने की प्रक्रिया हमेशा सीखने वाले के आत्म–चिंतन से शुरू होती है न कि किसी बाह्य उद्दीपन की वजह से। बाह्य उद्दीपन सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित तो कर सकता है लेकिन उसका कारण नहीं बन सकता है। डिवी के लिए सीखना पुस्तकों या शिक्षकों की मदद से ज्ञान प्राप्त करने तक सीमित न होकर दरअसल सीखने वाले की इन दोनों के साथ होने वाली अंतःक्रिया का नाम है। डिवी शिक्षक की मदद से सीखने और बच्चे द्वारा सक्रिय रूप से अपने अनुभवों के आधार पर सीखने के बीच एक संतुलन बनाने की बात करते हैं। परन्तु डिवी 'बाल–केंद्रित शिक्षा' का समर्थन करते हों ऐसा नहीं है। पहले शिक्षक कक्षा का अधिनायक होता था और अब शिक्षक एक जरूरी बुराई बन गया है। डिवी न तो शिक्षक की पहली अवधारणा से सहमत थे न ही दूसरी से सहमत हैं। उनके विचार से शिक्षक का कार्य बच्चे के सीखने को दिशा देने का होता है जो काफी महत्वपूर्ण है परन्तु यह महत्त्व उसे किसी व्यवस्थात्मक सत्ता की वजह से मिलने की बजाय उसके ज्ञान और अनुभवों की वजह से मिलता है। डिवी के अनुसार सीखने–सिखाने की विधि ऐसी होनी चाहिए जिसमे बच्चों का सक्रिय सहयोग आवश्यक हो। ऐसा तभी

संभव हो पायेगा जब सीखना बच्चों के अनुभवों से सीधे–सीधे जुड़े। अतः शिक्षक को सचेत प्रयास करना होगा कि कक्षा में सिखाई जाने वाली बात बच्चे के पूर्व अनुभवों से जुड़े ताकि वह शिक्षक की कम से कम मदद लेकर या उसकी मदद के बिना ज्ञान का निर्माण कर सके। डिवी के ये विचार काफी आकर्षक हैं लेकिन इनसे समस्या का समाधान होने की बजाय कई नयी समस्याएं पैदा होती हैं जिनको ठीक से समझ कर समाधान करने की आवश्यकता पड़ेगी। जैसे ही हम कहते हैं कि सीखने–सिखाने का मूल सिद्धांत सीखने वाले की स्वंत्रता है, प्रश्न खड़े हो जाते हैं जिनका हमें उत्तर ढूंढ़ना पडेगा : स्वतन्त्रता क्या है और वो कौन सी परिस्थितियां हैं जो सीखने वाले की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करती हैं ? जैसे ही हम कहते हैं कि बाह्य आरोपण बच्चे के बौद्धिक और नैतिक विकास में मदद करने की बजाय बाधक होता है, एक सवाल खडा हो जाता है : शिक्षण में शिक्षकों और किताबों की क्या भूमिका है ? जैसे ही हम कहते हैं कि बच्चे की शिक्षा वर्तमान और भविष्य से जुड़ी हुई होनी चाहिये न कि अतीत से, सवाल यह खड़ा होता है कि अतीत का अध्ययन किस प्रकार करे कि वह हमें अपने वर्तमान और भविष्य को समझने में मदद करे।

डिवी का विद्यालय

डिवी विद्यालय को समाज के ऐसे अंग के रूप में देखते हैं जिसका काम समाज के लिए उपर्युक्त नागरिकों को तैयार करना है। आमतौर पर विद्यालय स्थापित व्यवस्था और उसके मूल्यों और मान्यताओं को सुरक्षित रखने और बढ़ावा देने का कार्य करते हैं। यदि डिवी के अनुसार देखें तो वर्तमान विद्यालय और उनकी व्यवस्थाओं में भारी फेर–बदल करने की आवश्यकता होगी। और शायद डिवी भी कुछ ऐसा ही करना चाहते थे। डिवी का विद्यालय बच्चों को ऐसे अनुभव उपलब्ध कराता है जिनसे ज्ञान निर्माण होता हैय और यह ज्ञान बच्चों को समाज की बेहतरी के लिए अपना योगदान देने के योग्य बनाता है और प्रेरित करता है। इन विद्यालयों में बच्चे सीखने नहीं करने आते हैं। चाहे वो गणित या विज्ञान के पाठ हो या पढ़ना लिखना सीखना हो सब कुछ करने से ही होता है। बच्चे को झोपड़ी बनाने का मिलने वाला अनुभव उसे गणित और विज्ञान की कई अवधारणाओं को सीखने में मदद करता है जैसे रूपरेखा बनाना, मापना, तथा बंटवारा करना। जैसे ही बच्चा कोई कार्य संपन्न करता है उस कार्य को करने की पूरी प्रक्रिया को विस्तार से लिखता है और पूरे विद्यालय से उसके बारे में बातचीत करता है। डिवी का विद्यालय एक प्रजातांत्रिक समाज की तरह काम करता है जिसमें निर्णय लेने, योजना बनाने और उन्हें लागू करने में बच्चों की पूरी सहभागिता होती है। नेतृत्व का दायित्व बदलता रहता है और यह सिर्फ बच्चों के लिए ही नहीं विद्यालय में कार्य कर रहे बड़ों के लिए भी प्रजातंत्र के पाठ के रूप में काम करती है। इन विद्यालयों में बच्चे और शिक्षक मानसिक कार्यों के साथ–साथ शारीरिक कार्य भी उतनी ही लगन और कुशलता से करते है। यह मस्तिष्क और हाथ को बाटने वाली पूंजीवादी व्यवस्था का एक विकल्प सुझाता है।

शिक्षा का सीखने वाले की उम्र से क्या रिश्ता है ?

डिवी सिद्धांत रूप से ऐसी किसी भी द्वैतवादी ज्ञान मीमांसा के विरोधी थे जिसमे वयस्कों के ज्ञान और बच्चों के अनुभव में कोई साम्य ही न हो। उनका मानना था कि ज्ञान का निर्माण अनुभवों के आधार पर ही होता है और दुनिया का सारा ज्ञान मानवता के अतीत के समस्याओं और उनके निराकरण के अनुभवों से बना है. हां यह जरूर है कि 5 वर्ष के बच्चे, 10 वर्ष के बच्चे और वयस्क के विचार, उनकी रुचियां और गतिविधियां एक सी नहीं होती। इसको ध्यान में रखते हुए डिवी सीखने–सिखाने वाली विषयवस्तु का सीखने वाले की उम्र के अनुसार अनुकूलन करने की बात करते हैं।